बारहवाँ संस्कार

बारहवाँ संस्कार

कमलाकांत वर्मा

प्रकाशक
साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड,
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण; १६६१ ईसवी

चार रुपया मात्र

मुद्रक : श्रीकमल प्रेस, जीरो रोड, इलाहाबाद

अनुक्रम

लेखक का संक्षिप्त परिचय

श्री कमलाकान्त वर्मा आधुनिक हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के उन इने-गिने प्रतिभा सम्पन्न लेखकों में से एक हैं जिनकी रचनाओं से हिन्दी साहित्य भाण्डार विशेष रूप से समृद्ध हुआ है। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने जिस प्रकार अपनी एक रचना 'उसने कहा था' के बल पर प्रसिद्धि प्राप्त कर ली, उसी प्रकार वर्मा जी ने अपनी एक कहानी 'पगडंडी' द्वारा आधुनिक कथा-साहित्य के इतिहास में अपना गौरव-पूर्ण स्थान बना लिया है। ऐसे ख्यातिप्राप्त लेखक का जीवन-परिचय जान लेना रोचक एवं वांछनीय हो सकता है।

जन्म-तिथि	: ५ अक्टूबर १९११ ।
जन्म-स्थान	: उजियार-भरवली, बलिया।
शिक्षा	: हिन्दू विश्वविद्यालय काशी से बी० ए० और पटना विश्वविद्यालय से बी० एल०
जीविका	: व्यवसाय
कार्य-क्षेत्र	: सासाराम (बिहार) में तीन मास तक वकालत। १९३८ ई० में 'विशाल भारत' के सह-सम्पादक, फिर सम्पादक। तत्पश्चात् फिल्म-क्षेत्र में प्रवेश। १९४८ में 'बापू ने कहा था' का लेखन तथा निर्देशन। इसके पूर्व 'कुरुक्षेत्र,' 'तपस्या' आदि फिल्मों के निर्माण में योगदान।

पहली रचना : पहली रचना 'श्री' एकांकी नाटक १९३६ ई०। पहली प्रकाशित रचना 'पगडंडी' जो १९३७ ई० में 'हंस' के किसी अंक में प्रकाशित हुई थी।

प्रकाशित रचनाएँ : (१ प्रवासी-दो अंकों का नाटक (२) 'श्री' एकांकी (३) सूर्योदय (४) उस पार। 'उसको पिस्तौल किसने दी' अभी तक अप्रकाशित कहानी।

रुचि : संगीत विषयक शोध-कार्य।

प्रेरणा : गांधी, रवीन्द्र और अरविन्द।

—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

बारहवाँ संस्कार

गृहसूत्रों में विवाह को बारहवाँ संस्कार माना गया है। ऋषियों ने एक सामाजिक सम्बंध को इतना आध्यात्मिक महत्व दे डाला। इसका प्रमुख कारण मेरी समझ में तब आया जब कि मेरे विवाह के बाद कितने ही प्रश्नों में एक यह भी प्रश्न आ खड़ा हुआ कि मेरी स्त्री को क्या कहकर पुकारा जाय।

बाबूजी की राय हुई कि उसे सिर्फ 'बहू' कहा जाय। लेकिन, माँ ने आपत्ति की कि जब छोटे बच्चों के विवाह होंगे, तब बहुओं में 'बड़ी', 'मँझली', 'छोटी' आदि की उपाधियों का वितरण करना होगा और तब 'बड़ी बहू' का नाम सम्मानसूचक होने पर भी स्नेहसूचक नहीं रह जायेगा। अंत में बड़े बहस-मुबाहसे के बाद यह तय हुआ कि कर्मधारय के बदले षष्टी तत्पुरुष का ही प्रयोग हो और मेरी स्त्री का नाम रखा गया 'बच्चा बहू'।

व्याकरण के नियमों के अनुसार षष्टी तत्पुरुष उत्तरपद-प्रधान होता है, किन्तु इस नाम का असर घूम-फिरकर पूर्वपद पर भी पड़ा। पहले दिन जब माँ ने मुझे 'बच्चा' कहकर पुकारा, तब मैं पहले तो चौंका, फिर समझ गया कि 'बच्चा-बहू' के पति होने का यह युक्ति-संगत परिणाम ही है। इसके बाद जैसे 'पीटर्सबर्ग' एक ही रात में बदलकर 'लेनिनग्रेड' हो गया, उसी तरह मैं भी अपने आपसे बदलकर 'बच्चा' मात्र रह गया।

यदि उस समय केरो जीवित रहता, तो मैं उससे पूछता कि आज जब मैं अपने जीवन के तोरण-द्वार पर खड़ा हूँ, उस समय इस पुनर्नामकरण का मेरे जीवन या प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? और

मेरा विश्वास है कि यदि फ्रॉयड मुझे देखता, तो अवश्य कह देता कि तुम्हारे नाम में जो यह स्नेहपूर्ण सौकुमार्य अभी नया-नया आ गया है, उसकी छाया तुम्हारे व्यक्तित्व पर पड़ेगी ही और उसकी अभिव्यञ्जना शत-शत धाराओं में फूट निकलेगी, उसका रूप चाहे जो भी हो।

बीस साल की उम्र में जब मैंने बी० ए० की डिगरी ली, उस समय मैं अपने कालेज के उन प्रमुख विद्यार्थियों में से था जिनके विषय में यह कहना कठिन होता है उनकी प्रतिभा उनके शरीर के किस अंग में अधिक है। डिबेटिंग सोसाइटी, पार्लामेंट, स्पोर्ट्स, नाट्य-समिति, संगीत-परिषद् और यहाँ तक कि होस्टल के हंग्री क्लब में भी जिधर देखो, उधर मैं ही था।

हजारों प्रशंसा-पत्रों में से केवल एक सामने रखते हुए मुझे वह घटना याद आती है जब लेडी होस्टल में 'चन्द्रगुप्त' नाटक होते समय मैं स्टेज मैनेजमेंट के लिए बुलाया गया था। यवनिका उठने के सिर्फ आध घंटे पहले कुमारी शेफालिका जो चन्द्रगुप्त की भूमिका में थीं, अधिक भयभीत हो जाने के कारण अचानक बेहोश हो गईं। डाक्टर ने कहा, हिस्टीरिया का आक्रमण है। इस आकस्मिक दुर्घटना से ग्रीन रूम में बड़ी खलबली मची। विचार होने लगा कि नाटक स्थगित कर दिया जाय। तब तक मैंने डाइरेक्ट्रेस महोदय से जाकर कहा—"यदि आप कहें, तो चन्द्रगुप्त का अभिनय मैं कर दूं।" बात तो बड़ी बेढब-सी थी, किन्तु दूसरा कोई उपाय भी न था। अंत में मुझे अनुमति मिली। फिर मैंने चन्द्रगुप्त का जो अभिनय किया, उस पर कालेज के प्रिंसपल महोदय इतने प्रसन्न हुए कि एक स्वर्णपदक का पुरस्कार घोषित करते हुए उन्होंने कहा—"कुमारी शेफालिका ने चन्द्रगुप्त का जो अभिनय किया है, उसे देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि वे पुरुष नहीं हैं।"

परन्तु ये सब मेरे जीवन के प्राचीन प्रस्तर-युग की बातें हैं। अब पुनर्नामकरण की उस छोटी, किन्तु महत्वपूर्ण घटना के बाद जो मेरे

जीवन का ऐतिहासिक युग प्रारम्भ होता है, उसकी रूप-रेखा उस अनैतिहासिक युग की रूप-रेखा से बिल्कुल ही नहीं मिलती।

मैं जो कुछ था, इस समय उसका परिवर्धित, परिवर्तित, संशोधित या संक्षिप्त कौन-सा रूप है, यह स्वयं मुझे नहीं मालूम। लेकिन समय समय पर मेरे परिवार के प्रेस, प्लैटफार्म और पल्पिट से जो जिम्मेवार और गैर-जिम्मेवार सम्मतियाँ मेरे ऊपर जाहिर होती रहती हैं उनसे दो प्रश्न मेरे सामने आ खड़े होते हैं और उनमें पहला है—मुझे लोग समझते क्या हैं?

जिस दिन शकुन्तला आयी, उसी दिन माँ ने उसे पास बुलाकर कहा—"बचा-बहू, सुनती हो? बचा ने जब से जन्म लिया तब से लेकर अब तक बीस साल हुए। इतने दिन बिना नागा जब तक वह मेरे पास रहा, मैं रात को उसके सिर और पैर के तलवों में तेल लगाती रही हूँ। अब आज से इसका जिम्मा तुम्हारा। और चाहे जो भी हो, इस काम में नागा न करना।"

उसी रात को अभी आँख लगी भी न थी, चूड़ियों की खनक के साथ मेरे पैर के तलवों में सलसलाहट मालूम हुई। मैं झपटकर उठ बैठा। देखा, शकुन्तला तेल लिये बैठी है। मैं उसके हाथ पकड़कर बोला, "वाह, यह भी तेल लगाने का कोई वक्त है?"

उत्तर कुछ नहीं मिला।

तब मैंने कुछ सोचकर कहा—"और गरमी इतनी है कि तेल लगाने पर मुझे खामख्वाह नहाना पड़ेगा।"

इसका भी कोई सन्तोषजनक जवाब नहीं मिला। केवल इतना ही मालूम हुआ कि तेल लगाने का मामला 'प्राविंशियल सब्जेक्ट' न होकर 'इम्पीरियल सब्जेक्ट' है। लिहाजा बात गवर्नर के हाथ के बिल्कुल बाहर की थी। अंतिम फैसला वायसराय ही कर सकता था। मजबूर होकर मुझे चुप हो रहना पड़ा।

एक हफ्ते बाद रात को मैं अपने कमरे में कोई जरूरी काम कर रहा था। दस बज गए थे। तब तक दूध का कटोरा लेकर शकुन्तला आयी और उसे तिपाई पर रखकर बोली "शक्कर कितनी दूँ?"

मैंने कहा, "आज दूध नहीं पी सकूँगा।"

"क्यों?"

"रात में बहुत देर तक जागना है। दूध पीकर ज्यादा देर तक बैठना ठीक नहीं है। इससे अच्छा है चाय बना दो, दो कप पी लूँगा। नींद भी नहीं लगेगी।"

शकुन्तला चली गई और कुछ देर बाद फिर लौटकर आई!

मैंने पूछा, "चाय तैयार हो गई।"

"नहीं।"

"तो लाओ स्टोव, यहीं बना लूँ।"

"नहीं, चाय नहीं बनेगी।"

"क्यों?"

"माँ जी ने दूध पीने को कहा है।"

"वाह! क्या जबर्दस्ती है? माँ जी ने दूध पीने को कहा है और मैं पी लूँ! आखिर चाय पीने में हर्ज ही क्या?"

"उन्होंने कहा है कि जुकाम में चाय हर्ज करती है। इसलिए चाय नहीं मिलेगी, दूध ही पीना होगा।"

"अच्छी बात है, तब मैं दूध भी नहीं पीऊँगा, ले जाओ।"

मेरी झुँझलाहट पर ध्यान देने की कोई विशेष आवश्यकता न महसूस कर शकुन्तला ने दूध टेबुल पर मेरे सामने रख दिया। फिर बड़े इत्मीनान के साथ बिजली का बल्ब बुझा कर आले पर मीठे तेल ाकचिराग जला दिया और कलम-दावात उठाकर आलमारी में रख दी।

मैंने झल्लाकर कहा, "उफ़! भई, तुम तो बहुत ही तंग करती हो, मैं तो परेशान हो गया।"

शकुन्तला कुछ नहीं बोली। एक बार अत्यन्त उपालम्भपूर्ण दृष्टि से मुझे देखकर कमरे के बाहर चली गई, फिर शीशी में तेल लेकर लौटी। बोली, "चलो सो रहे हो, सिर में तेल लगा दूँ।"

मैंने क्रोध से कहा, "मैं तेल-वेल नहीं लगवाऊँगा, तुम जाओ सोओ।"

उसने मानो कुछ सुना ही नहीं, कुर्सी के पास आकर चुपचाप सिर में तेल लगाने के लिए कार्क खोलने लगी। तब तक मैंने झपटकर उसका हाथ पकड़ लिया और बोला, "आज तुमने अगर मुझे तेल लगाया, तो सारी शीशी तुम्हारे सिर पर उड़ेल दूँगा।"

क्षुब्ध होकर शकुन्तला ने कहा—"तो तुम माँ जी से क्यों नहीं कहते?"

"माँ जी ने क्या मेरे खाने, पीने, सोने, जगने का ठेका ले रखा है। अगर ऐसा है तो उन्हीं को ले जाकर तेल क्यों नहीं लगाती?" मैंने रोष से कहा।

खिड़की की ओर मुँह करके शकुन्तला थोड़ी देर रुआँसी होकर खड़ी रही। फिर केवल इतना बोली—"धोबी से पार नहीं पाते, गधे के कान उमेठते हैं।"

और बात सच भी थी। उस रात को मुझे अपने कान ऐंठने पड़े कि किसी सरकारी काम में कभी बाधा नहीं उपस्थित करूँगा। दूसरे दिन माँ की जो झिड़कियाँ खानी पड़ीं सो अलग। इसके अलावा सुबह को बाबू जी ने बुलाकर कहा—"बच्चा! सुना है तुम बच्चा बहू को नाहक ही डाँट दिया करते हो यह बात अच्छी नहीं। तुम तो खुद समझदार हो।"

× × ×

वकालत पास करके जिस साल मैंने हाइकोर्ट में चैम्बर अटेण्ड करना शुरू किया, उसी साल मेरे गाँव में भारी मारपीट का सामना हुआ

और फौजदारी की नौबत आ गई। मेरी पट्टी के लोग बाबू जी से सलाह और मुकदमे का खर्च लेने आये।

जब मैंने सुना, तब बाँछें खिल आईं। गाँव के लोगों पर अपनी लियाकत का रोब जमाने के लिए यह अच्छा अवसर हाथ आया। आखिर कानून का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने का इससे अच्छा मौका दूसरा कौन-सा हो सकता है?

बाबू जी कहीं बाहर गये थे। मैंने गाँव के लोगों को अपने कमरे में बुलाकर उनका सारा वृत्तान्त सुना और बहुत देर तक ढेर की ढेर किताबें उलटता-पुलटता रहा। अंत में अत्यन्त गम्भीर होकर मैंने कहा, "आप लोगों का केस तो बहुत कमजोर है। लेकिन मेरा विश्वास है कि अभी से इसमें पड़जाऊँ तो कोई न कोई रास्ता निकाल ही लूँगा। खैर, देखिये......"

जिससे मैं बात कर रहा था, दस साल पहले उसी की दाढ़ी देखकर उसे हौवा समझकर मैं भागा-भागा फिरता था। आज मेरी कानूनी लिफाफेबाजी देखकर वह चकरा गया, बोला—"अच्छा, अच्छा, तब बाबू जी के साथ तुम भी चलोगे! ठीक तो होगा।"

शाम को जान-बूझकर क्लब से जरा देर करके लौटा। आने पर मालूम हुआ कि बाबू जी मेरे देर से लौटने की वजह से बिगड़ रहे थे। मेरा देर करके लौटना और उनका बिगड़ना यह तो रोजमर्रा की बात थी। लेकिन आज मैंने अपने आप में कुछ महत्वपूर्ण आत्मसम्मान का अनुभव किया। जान पड़ता है, बाबू जी मुकदमे के विषय में कुछ पूछने वाले थे, इसी से मुझे अपने आफिस में समय से न देखकर बिगड़े होंगे। अत्यन्त गुरु-गम्भीर बनकर मैं अपने आफिस में जाकर चुपचाप अपना काम करने लगा। बहुत देर हो गई और मुझे किसी ने नहीं बुलाया, तब मुझे नैराश्य-सा होने लगा। अंत में मैं खुद ही बाबू जी के कमरे की ओर चला।

बाबू जी दाढ़ी वाले बुड्ढे से बातें कर रहे थे, मुझे देखते ही बोले—"बच्चा, आज क्लब से तुम बहुत देर करके लौटे ?"

"जी हाँ, कुछ नये लोग आ गए थे, इसी से......"

"लेकिन यह बात ठीक नहीं है। नये लोग तो रोज ही आते-जाते रहते हैं। इसके वास्ते तो अपना वक्त खराब करना मुनासिब नहीं है।"

जो आदमी मेरा मुवक्किल बनने जा रहा था, उसी के सामने ऐसी बातें ! मुझे कुछ झुँझलाहट-सी हुई। तब तक बाबू जी ने कहा—"आज रात को मैं देहात जा रहा हूँ। दो-तीन दिन शायद वहाँ ठहरना पड़े तब तक तुम......"

मैंने बात काटकर कहा—"लेकिन अच्छा तो होता कि आपके बदले मैं ही चला जाता।"

"तुम...तुम जाकर क्या करोगे ?" विस्मय से बाबू जी ने पूछा

"क्यों नहीं, यह तो मामले-मुकदमे की बात है। जितना इसे मैं समझूँगा उतना दूसरा कोई......"

बीच में ही बाबू जी ने कहा—"नहीं, नहीं, यह कोई दीवानी मुक-दमा थोड़े ही है। फौजदारी का मामला है, मार-पीट की बात। इसमें तुम्हें कैसे जाने दे सकूँगा।"

मैं कुछ और भी कहना चाहता था, लेकिन उन्होंने बीच में ही रोक दिया, बोले—"नहीं-नहीं, ऐसे खतरे की जगह तुम्हारा जाना ठीक नहीं मालूम नहीं कब क्या हो जाय ? तुम यहाँ हाईकोर्ट में अपना काम देखो।"

रात में शकुन्तला ने पूछा—"बाबू जी गाँव जा रहे हैं क्या ?"

"जाते होंगे, मुझसे क्या मतलब ?" मैंने झुँझलाकर कहा।

"तो तुम भी साथ में क्यों नहीं चले जाते ? फौजदारी का मामला है। ऐसे वक्त में उन्हें अकेले जाने देना क्या ठीक होगा ?"

मैं जला-भुना था ही, जी में आया बरस पड़ूँ। लेकिन चुप ही रहा।

शकुन्तला कहने लगी—"और नये वकील के लिए यही तो मौका है काम सीखने का। जब तक ऐसे-ऐसे मामले हाथ में न लगें, तब तक सीखोगे क्या खाक ! लेकिन तुम तो घड़ी भर के लिए शहर छोड़ना नहीं चाहते। मालूम नहीं······"

मैंने ऊबकर कहा—"तुम कहो तो मैं सोऊँ और नहीं तो बाहर चला जाऊँ।"

"अगर बाहर ही जाने का मन रहता, तो गाँव नहीं जाते।" कहकर उसने मेरे सिर आधी शीशी तेल उड़ेलकर अपना नित्य कर्म शुरू किया और आँखें मूँदकर स्थितप्रज्ञ भाव से 'समत्वं योग उच्यते' की मासिक विवेचना करता हुआ मैं चुप पड़ा रहा।

दूसरे दिन सुबह शकुन्तला ने कहा,—"बाबू जी तो देहात चले गए, बड़ा गड़बड़ हुआ।"

"क्या गड़बड़ हुआ?" मैंने पूछा।

"मेरा हार सोनार के यहाँ बना पड़ा है और इसी शनिवार को मेरे जाने का दिन है। अगर तब तक बाबू जी नहीं आये, तो मेरा हार कैसे आयेगा?"

"हार का दाम दे दिया गया है?" मैंने पूछा।

"मेरे पास चौबीस गिन्नियाँ हैं। हार तौलवाकर दाम ठीक करके गिन्नियाँ दे देने की बात थी, सो बाबू जी तो चले गए······

मैंने रोककर कहा—"तो इससे क्या हुआ? मुझे गिन्नियाँ दे दो मैं हार तौलवाकर ला दूँगा और जितनी गिन्नियाँ उसे देनी होंगी, दे दूँगा।"

अत्यन्त आश्चर्य प्रतिहत-सी होकर शकुन्तला ने कहा, "तुमसे इतना होगा?"

जी में आया उसका मुँह नोच लूँ। अब निश्चय कर चुका था कि जितनी जल्दी हो सके कोई अत्यन्त दायित्वपूर्ण काम करके सबको

दिखला दूँगा कि मैं एकदम 'बच्चा' नहीं हूँ। संयत भाव से मैंने कहा, "तो क्या तुमने मुझे एकदम काठ का उल्लू समझ रखा है ?"

"नहीं, नहीं, सो नहीं, मैं पूछती थी क्या तुम इतनी झंझट में पड़ना स्वीकार करोगे ?"

मैंने कहा, "इसमें झंझट की क्या बात है ? लाओ गिन्नियाँ, मैं अभी तुम्हारा हार ला दूँ।"

"लेकिन......"

मैंने कहा, "अब लेकिन क्या ? इसका मतलब तो यह है कि तुम्हें मुझपर विश्वास नहीं है।"

बहुत आगा-पीछा करके अन्त में मुझे गिन्नियाँ देते हुए शकुन्तला ने कहा, "लेकिन देखो, ठगाना नहीं, सोनारों की जात धोखेबाज होती है। ऐसा न हो कि......"

मैंने शान से कहा, "अजी, मैं वकील हूँ कि ठट्ठा। अगर जरा-सी चोरी करें तो उन्हें सीधे जेल की हवा खिला दूँ......और नहीं तो क्या ?"

और फिर दुकान की ओर चल पड़ा। सोनार अपनी दुकान पर नहीं था। कहीं गया था। आदमी भेजकर उसे बुलाया। आते ही मुझे देखकर वह विस्मित-सा होकर बोला—"अरे बच्चा बाबू ! आप किधर से रास्ता भूल पड़े ?"

मुझे आश्चर्य हुआ कि मेरा नया नाम क्या इतना विख्यात हो गया है कि पुराना नाम किसी को याद ही न पड़े !

मैंने कहा, "कुछ नहीं, हार के लिए आया हूँ।"

"तो...बाबूजी घर पर नहीं हैं क्या ?"

"नहीं, देहात गये हैं। हार के लिए जल्दी थी। मैं गिन्नियाँ लेकर आया हूँ, आप तौल कर दाम ले लीजिए।"

सोनार सिर खुजलाने लगा, बोला, "सोतो ठीक है सरकार, लेकिन सोने-चाँदी का काम बहुत नाजुक होता है। हार मेरा बनाया नहीं है। कलकत्ते की दुकान का है। इसलिए जब तक बाबूजी उसे पसन्द नहीं कर लें, तब तक..."

मैंने रोक कर कहा, "तो इसमें फर्क ही क्या हुआ? बाबूजी नहीं हैं, तो मैं तो हूँ?"

"हाँ, हाँ, सो तो ठीक ही है। लेकिन पुराना सरोकार है, मैं नहीं चाहता कि उसमें बल पड़े। अगर हार बाबूजी को पसन्द नहीं पड़ा, तो उसे मैं लौटा नहीं सकूँगा...और फिर सरकार, आप तो सब बात समझते ही हैं। लीजिए, इलायची खाइए...बात यह है कि..."

मैं आगे कुछ नहीं बोला। दुकान से उठकर सीधा घर लौट आया और निश्चय किया कि इस बार बाबूजी से बिना झगड़ा किए नहीं रहूँगा। घर पर देखा शकुन्तला नहीं थी। मैंने माँ से पूछा, "वह कहाँ गई है?"

"बच्चे को लेकर अस्पताल गई है।"

"अस्पताल! किसलिए?"

"महीने भर से बच्चे की आँख आयी हुई है, न कोई देखता है, न सुनता है। इसलिए आज उसी को मैंने गाड़ी पर भेज दिया।"

"तो...तो मुझसे क्यों नहीं कहा?"

आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों से देखकर माँ ने कहा—"तुझसे क्या कहती?"

"क्यो बच्चे की आँख आयी है, क्या यह बात मुझसे नहीं कही जा सकती?"

"तो क्या तू कहीं दूसरी जगह गया था? तू भी तो यहीं था? जिसे दुनिया में किसी की चिन्ता नहीं उससे क्या कहा जाय?"

मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया। माँ के सामने गिन्नियाँ फेंककर एक बड़ा प्रश्न मन में लिये अपने कमरे में लौटा। आखिर लोग समझते मुझे क्या हैं ?

× × ×

दूसरा प्रश्न है—सचमुच मैं हूँ क्या, या दूसरे शब्दों में—हो क्या गया हूँ ?

इस सम्बंध में उस दिन जो एक घटना हुई थी, वह याद आती है। घर पर मर्द के नाम एक मैं था और एक मेरे बच्चन भइया। उम्र में मुझसे सात-आठ साल छोटे, लेकिन शक्ल-सूरत, बातचीत से सारे मुहल्ले के लड़कों में बुजुर्ग। मकान वाले ने नोटिस दी थी, इकतीस तारीख को मकान खाली कर देना था। उसके दो ही तीन दिन पहले बाबूजी को कहीं जाना था। मुझसे कह गए कि मालूम नहीं, कितने रोज में मैं लौटूँ, तब तक एक अच्छा-सा मकान देखकर तुम लोग उसमें चले जाना।

काम कुछ बहुत भारी नहीं था, फिर भी दायित्वपूर्ण था। मैंने दृढ़ निश्चय किया कि अब इसी अवसर पर अपनी सारी कल्पना और कामन सेन्स खर्च कर दूँगा। ऐसा मकान ढूँढ़ निकालूँगा कि···और फिर उसे इस तरह सजा दूँगा कि जो देखे, वही विस्मय से दाँतों तले उँगली दबा ले।

दूसरे दिन शाम तक साइकिल पर चक्कर काटता हुआ मैं दर्जनों मकान देखकर कुछ असन्तुष्ट-सा घर लौटा। जितने मकान देखे उनमें कुछ अच्छे थे तो जरूर, लेकिन जैसा मैं चाहता था वैसा एक भी नहीं था। किसी में कोई असाधारणता नहीं थी। तब तक बच्चन भइया उछलते हुए पहुँचे, बोले—"भइया, अभी एक मकान देखकर चला आ रहा हूँ।"

"कैसा मकान ?"

"यही जो बगल में सरदार जी हैं कि नहीं, उन्हीं का है। कालेज के ठीक पीछे उन्होंने तीन बीघे का एक प्लाट लिया है। उसी में मकान बनवा रहे हैं।'

मैंने कहा, "जगह तो बहुत अच्छी है।"

"जगह ? अरे, मैं तो कहता हूँ, वैसी साइट दो सौ रुपये खर्च करने पर भी शहर में नहीं मिलेगी। फिर खयाल कीजिए, तीन बीघे का एक ही प्लाट है। सरदार जी सारा का सारा प्लाट हम लोगों को देने को राजी हैं। कहते हैं, खुद अपने लिए एक कोने में छोटी-सी मड़ैया डाल लेंगे।"

"लेकिन मकान कैसा है ?" मैंने पूछा।

"मकान ? यही तो जरा अड़चन है ! मकान पक्का नहीं है। ऊपर फूस की छावनी है और दीवार के बदले में अभी टट्टियाँ दे रहे हैं। उसके ऊपर से मिट्टी का चिकना प्लास्टर दे देंगे। फिर जी में आयेगा तो उसे हम लोग हरे या नीले रंग में रँग लेंगे।"

मैंने कहा—"आइडिया तो कुछ बुरा नहीं है। फूस और टट्टी के मकान में तो महात्मा गाँधी रहते थे। अब तो टट्टियों के शहर में ही काँग्रेस तक होती है। लेकिन एक बात है, सुरक्षित होना चाहिए..."

"अजी, सुरक्षित की आपने एक ही कही। तीन बीघे का प्लाट, हम चारों ओर कँटैला तार देकर नीले काँटे की झाड़ियों की फेंसिंग कर देंगे। इसके अलावा वहाँ बगल में चारों ओर आबादी भी है। इसके वास्ते कोई चिन्ता नहीं है। फिर सरदार जी भी तो अपने लिए वहीं छावनी बना रहे हैं ?"

मैंने कहा—"सो तो ठीक है। फूस का कच्चा मकान गर्मियों में खूब ठंडा भी रहेगा। हम लोग उसे बँगलानुमा बनाकर हरे रंग से रँग देंगे। चारों ओर सब्जी रहेगी। नर्सरी से खूब अच्छे-अच्छे फूल मँगा लिये

जायेंगे। भीतर एक ट्यूब-वेल लगा लिया जायेगा। जी में आयेगा तो एलेक्ट्रिक करेण्ट भी ले लेंगे। और…"

"इसके अलावा कुछ भी खर्च नहीं।" गदगद कंठ से बच्चन भइया ने कहा, "अपने घर में साग-सब्जी का खर्च तीस रुपये महीने से कम का नहीं है, उतना तो हम वहीं उपजा लेंगे। फिर फूल-पत्ती भी रहेगी। एक छोटा-सा ग्रीन हाउस, एक आर्बर, सामने बरामदे में अंगूर की लता, उसके आगे एक फौव्वारा और गेट के सामने साबूदाने तथा विलायती पाम के दरख्त…उफ्…पाँच साल के भीतर ही कैसा रमणीक हो जायेगा कि जिसका ठिकाना नहीं!"

"बस, बस," मैंने आवेश के साथ कहा, "यही ठीक है। कम खर्च बालानशीं। ऐसा गार्डन-हाउस बनाया जायगा, जिसका जोड़ शहर में खोजे नहीं मिले। रुपये खर्च करने से थोड़ा ही कुछ होता है? दिमाग चाहिए, कल्पना-शक्ति! बाबू जी भी क्या समझेंगे। चलो, मैं अभी सरदार जी से मिल लूँ।"

सरदार जी से बातें पक्की हो गईं। उन्होंने कहा, "मकान अभी तैयार तो नहीं है; लेकिन अगर मैं चाहूँ तो वे जल्दी उसे पूरा कर दे सकते हैं।"

मैंने कहा, "पूरा पीछे होता रहेगा, जब तक हम लोग उसमें चले चलेंगे। हमें तो इकतीस तारीख तक यह मकान छोड़ देना है।"

रात-भर कल्पनाओं की भीड़ में नींद नहीं आई। दूसरे ही दिन मकान खाली कर देना था। मुश्किल से घण्टे भर चारपाई पर पीठ रखी। सुबह होते ही सामान-असबाब ठीक करना शुरू कर दिया। कुलियों को बुलाकर मजदूरी तै की। फिर गोदाम में पड़ा हुआ नर्सरी का धूल और जाला से भरा एक पुराना कैटलग उठाकर उसे पढ़ने बैठा।

तब तक शकुन्तला ने आकर पूछा, "कौन-सा मकान ठीक किया तुमने ?"

जी में आया, सारा प्लैन बता दूँ। लेकिन फिर सोचा शरारती है, झूठमूठ झगड़ा करेगी। बोला, "चलो, मकान जैसा भी हो, अब तो चलना ही है।"

लेकिन घर में रिपोर्टरों की कमी तो है नहीं। सोनिया दाई फायर-बिग्रेड की मोटर की तरह घनघनाती हुई पहुँचीऔर बोली—"बहू जी; कैसा मकान खोजा गया है !"

"कैसा ?"

"उसमें बाहर से चेहरा तो नजर नहीं आयेगा, सिर्फ आधी टाँग दीखेगी बस !"

"इसके मानी ?"

"यही कि फूस की छावनी है और टट्टियों की दीवार। दरवाजा, चौखट सब कुछ नदारद। टट्टियाँ भी ऐसी जो ज़मीन से एक गज़ ऊपर ही टँगी-हुई हैं।"

शकुन्तला ने मुझसे पूछा, "यह मैं क्या सुन रही हूँ ?"

"जो सुन रही हो, वह सच ही तो है।" मैंने कहा।

"तो बाबूजी ने तुम्हें ऐसा ही मकान खोजने को कहा था ?"

बाबूजी का नाम सुनते ही मानो मेरे बदन में आग लग गई। बोला, "यह क्या ज़रूरी है कि बाबूजी जो कहें वही मैं करूँ ?"

"अगर अपनी अकल दुरुस्त न हो, तो दूसरों की बात भी तो माननी चाहिए ?"

"अच्छा, मेरी अकल की समालोचना न करके अभी तुम अपना काम करो, समझी ?"

झल्लाया हुआ मैं बाहर आया और क़स्द की कि अब चलूँगा तो इसी मकान में; चाहे जितने रुपये भी लगें, इसे बनाकर ही छोड़ूँगा। और तब सबकी आँखों में उँगली करके दिखा दूँगा कि अक्ल किसी की खरीदी नहीं होती।

सुबह से ही सामान ढुलवाना शुरू किया और शाम तक ढुलता रहा। मकान में जगह तो बहुत कम ही थी। इसके अलावे दरवाजे, चौखट भी अभी नहीं लगे थे। इसलिए सामान बाहर-भीतर चारों ओर फैल गया। सामने आम का एक बड़ा सायादार वृक्ष था। उसके नीचे ट्रंकों का अम्बार लग गया। कुर्सी, टेबुल, आलमारियाँ आदि वेस्ट-इन्डीज़ के द्वीपों की तरह हाल की कोड़ी हुई ज़मीन पर भर के बिखर पड़ीं। चिराग-बत्ती जल जाने पर बच्चों को लेकर शकुन्तला आई। एक बार चारो ओर घूम-घूमकर उसने देखा। फिर सर पर हाथ रखकर अँधेरे में एक कोने में चुपचाप बैठ रही। मेरे जी में आया, उनसे पूछूँ, मकान कैसा है। लेकिन यह समझकर कि यह खामखत्राह बर्रे के छत्ते में हाथ डालना होगा, चुप ही रहा।

और तब आम के पेड़ के नीचे कुर्सियाँ डालकर बच्चन भइया तथा मैं अपना प्रोग्राम निश्चित करने बैठे।

मैंने कहा, "तीन बीघे का प्लाट है तो जरूर, लेकिन तरकारियाँ बोने से जमीन का सौन्दर्य नष्ट हो जायेगा। मेरी तो राय है कि सिर्फ फूल लगाये जायँ।"

लेकिन बच्चन भइया ज़रा उपयोगितावादी आदमी हैं, मैटिरियलिस्टिक। बोले, "मैं यह नहीं कहता कि फूल लगाये ही न जायँ, लेकिन रसोई के आँगन में और पीछे की ओर तो सब्जियाँ बोना ही ज्यादा अच्छा होगा।"

मैंने पूछा, "अच्छा, तो कौन-सी सब्जियाँ इस मौसम में बोई जा सकती हैं?"

गार्डेनिंग का ज्ञान बच्चन भइया को मुझसे ज़्यादा नहीं है। मेरा ज्ञान उस विषय में उतना ही है जितना श्री अरविन्द घोष को फिल्म-व्यवसाय के विषय में था। फिर भी गम्भीर होकर इस विषय में उन्होंने कहा, "यही आलू, कोबी, प्याज, सेम, बैंगन, शलजम, टमाटर वगैरह··· और क्या? इसके अलावा ककड़ी, तरबूजा आदि बो लेंगे।"

व्यावहारिक उद्भिद् विज्ञान का काम अपनी प्रखर कल्पना-शक्ति से लेकर मैंने बीच में ही कहा, "और अगर सोयाबीन बोया जाय, तो कैसा हो? बिल्कुल नयी चीज होगी, है कि नहीं?"

"सो तो है। लेकिन उसके विषय में अध्ययन करना होगा। इसलिए फिलहाल तो···"

मैंने अमेंडमेंट मान लिया, कहा, "हाँ, हाँ, अध्ययन तो करेंगे ही और तब तक यही देशी सब्जियाँ बो लेंगे।"

इसके बाद मकान की सजावट का प्रश्न आया। कागज-पेंसिल लेकर हम लोगों ने फुलवारी का एक स्केच बनाया। किधर गेट होगा, किधर ग्रीन-हाऊस, किधर फौव्वारा। तै हुआ कि कल ही एलेक्ट्रिक करेण्ट के लिए दरख्वास्त दे दी जाय और नर्सरी जाकर फूलों का कैटलग लाया जाय। मकान के रंग के बारे में मत-भेद हो गया। मैंने कहा आसमानी, बच्चन भइया ने कहा हरा। बहुत बहस हुई। अन्त में निश्चय हुआ कि कुछ कलाकार मित्रों से सलाह लेकर ही रंग चढ़ाया जायेगा।

एक बात दोनों को पसन्द आई, वह यह कि मकान ठीक बन जाने पर तुरन्त ही खूब बड़ा एक तिरंगा झंडा लाकर मकान के ऊपर फहरा देंगे। यह भी राय हुई कि सब सजावट हो जाने पर चुने हुए मित्रों को तवाज़ा दिया जायेगा जिसमें सब लोग देख और समझ लें कि प्रखर कल्पना-शक्ति जंगल में भी कैसा मंगल मना सकती है और कलाकार खँडहर में भी कैसे नन्दनवन बसा दे सकता है।

और इतने में ही खबर मिली कि बाबूजी नौ बजे की गाड़ी से आये हैं। अब प्रश्न हुआ कि बाबूजी को स्कीम बतायी जाय या नहीं। बच्चन भइया की राय हुई कि उन्हें भी अपनी मंत्रणा में शामिल कर लिया जाय। लेकिन मैंने सोचा कि एक बार ही स्टंट की तरह सब कुछ कर दिखाया जाय।

तब तक छट्टू नौकर ने आकर इत्तला दी कि बाबूजी बुला रहे हैं। मैंने बच्चन भइया से कहा, "तुम जाओ।" वे बोले, "नहीं, आप जाइए।" अन्त में तै हुआ दोनों चलें।

चारपाई पर एक बच्चा पड़ा-पड़ा कान के पर्दे फाड़ रहा था। दूसरा सोनिया की गोद में बैठा रो रहा था। शकुन्तला स्टोव पर दूध गरम कर रही थी। बाबूजी ने जलद गम्भीर स्वर में कहा, "बच्चा, मैं नहीं समझता था कि तुम इतने निकम्मे हो।"

मैंने विस्मय से पूछा, "क्या हुआ?"

"पूछते हो, क्या हुआ? यह मकान शरीफ घर की औरतों के रहने लायक है? न दरवाजा, न चौखट। टट्टियाँ गज-गज भर ऊपर टँगी हुई..."

बच्चन भइया ने समझाते हुए कहा, "लेकिन वह तो ईंटें की कुर्सी जड़ने के लिए रखा गया है।"

"तो क्या तुमने भाँग पी थी जो आज रात को यहाँ सब सामान और बाल-बच्चों को लेकर चले आये? इस कोड़े हुए आलू के खेत में बच्चे सोयेंगे?"

मैंने हल्का-सा विरोध किया, "लेकिन यह सब तो हफ्ते भर के भीतर ही ठीक हो जायेगा।"

"तो हफ्ते भर क्या सब आसमान में रहेंगे?"

बीच में सोनिया ने आग लगाते हुए कहा, "अगर सिर्फ इतना ही रहता तो सब तो? न कहीं पाखाना है, न चौके का घर। कहीं कुआँ

या कल भी नहीं है कि पानी लाया जाय। यह घर है या टीसन का प्लैटफारम !"

बाबूजी ने मेरी ओर देखा। मैंने बच्चन भइया की ओर और बच्चन भइया ने आसमान की ओर। सचमुच यह तो एक नया प्रश्न था जिसके विषय में मुझे मानना होगा कि हम लोगों ने कुछ सोचा ही न था। पाखाना, रसोईघर, कुआँ आदि चीजें कला और सौन्दर्य की दृष्टि से तो तुच्छ-सी ही हैं फिर भी अपने-अपने स्थान पर इनका महत्व है और बहुत है। मुझे लगा कि मकान के प्रश्न के इस पहलू को तो मैंने सोचा ही न था। मैं सोच ही रहा था कैसे यह समस्या हल की जाय कि बच्चन भइया ने कहा, "लेकिन बाबू जी ये सब तो साधारण-सी दिक्कतें हैं, ऐसी नहीं जिनके लिए अधिक परेशान होने की जरूरत हो। पाखाना, पानी या रसोई घर कोई ऐसी चीज नहीं है कि···"

बच्चन भइया कैसी बेसमझी की बात कर रहे हैं। भलमानस पाखाने, पानी और रसोईघर के प्रश्न को साधारण बता रहा है। इससे बढ़कर दूसरी जहालत क्या हो सकती है ? यह दूसरी बात है कि पहले इस पहलू पर ख्याल नहीं किया गया था; लेकिन जब ख्याल हो गया तब ऐसी बातें कहना और वह भी जहाँ शकुन्तला, सोनिया और बाबूजी खड़े हों···शिव ! शिव !

मैंने खोंखा, खँखारा, मटकी की; लेकिन व्यर्थ। अपने वक्तृत्व के स्वर को जरा और भी ऊँचा कर के अत्यन्त आवेश से पाकेट से नक्शा निकालकर बच्चन भइया ने जरा और भी गति में आते हुए कहा—"और बाबूजी, ख्याल कीजिए, हम लोगों के कब्जे में तीन बीघे का इतना बड़ा प्लाट है। अब असल बात तो यह है कि अगर इसमें जैसा हम लोगों ने सोचा है, अच्छे ढंग से गार्डेनिंग की जाय, तो उससे साल भर की तरकारी का खर्च तो निकल ही आयेगा, साथ ही यह स्थान इतना कलापूर्ण, रमणीक, मनोरम···"

एक बार ही गरजकर बाबूजी ने कहा, "स्टुपिड, ईडियट···, चले जाओ यहाँ से···"

मैं सहम गया। बच्चे रो रहे थे, सो डरकर चुप हो गए। बच्चन भइया के हाथ का नक्शा हाथ में ही रह गया। अत्यंत क्षोभ और आश्चर्य से मेरी ओर उन्होंने देखा। मैं तो पहले से ही डर रहा था कि ऐसी तरह की कुछ बात होगी। फिर यह भी आतंक हुआ कि कहीं बौछार मेरे ऊपर भी न पड़े। मैंने धीरे से उनके हाथ से नक्शा ले लिया और गम्भीर होकर कहा, "नहीं, नहीं, सचमुच यह तो बहुत बड़ी बेवक़ूफ़ी हो गई। जहाँ पाखाना, पानी या रसोईघर का कोई ठीक इन्तज़ाम नहीं, वहाँ तो···"

वक्र दृष्टि से शकुन्तला ने मेरी ओर देखा। सोनिया मुँह में आँचल डालकर हँसी रोकती हुई बाहर खिसक गई। बच्चन भइया ने विस्मित मौन हो मेरी ओर देखकर एक साँस ली। मैं यह मानूँगा कि उस समय मेरी आत्मा को अत्यन्त क्षोभ हुआ, लेकिन किया क्या जाय! "आत्मानं सततं रक्षेत"···आत्मरक्षा तो सर्वोपरि है।

मैंने कहा, "अब आज तो किसी तरह रात काटनी होगी। फिर सुबह कोई दूसरा मकान देखकर चले चलेंगे, तब तक···" और फिर बिना किसी ओर देखे चुपचाप बाहर सरक गया।

तम्बीह से बचे तो प्रायश्चित्त गले पड़ा। सामान-असबाब का पहाड़ बाहर खड़ा था। एकान्त स्थान, चारों ओर सियार-कुत्ते रो रहे थे। कहीं एक रोशनी की टिमटिमाहट तक नहीं। फिर यह भी मालूम हुआ कि अगल-बगल में जो मिट्टी के दो-चार घर हैं उनमें रहने वालों की शोहरत कुछ वैसी शराफ़त की न थी। चोरी-डकैती के मामले में प्रायः सभी दो-चार साल काट आये थे। तीन कप चाय, अमोनिया साल्ट और एक उपन्यास के बल पर रात कटी। भोर होते ही सायकिल लेकर बिना किसी से कहे-सुने मैं नये मकान की तलाश में चला।

इस घटना के परिणामस्वरूप जो एक अनिवार्य प्रश्न उठ खड़ा होता है, उसका उत्तर मैं क्या दूँ ? शायद दे सकता भी नहीं। फिर भी एक बात समझ में आती है। मेरे जीवन के इस अध्याय का प्रारम्भ जिस काल में हुआ है, उसका समय-निरूपण तभी से होता है, जबकि विवाह होने के बाद शकुन्तला को माँ ने पहले पहल 'बच्चा-बहू' कहकर पुकारा था।

तुलसीदास ने पत्नी के प्रसाद से 'प्रेम रस' पाया था। मैंने भी कुछ पाया है। किन्तु वह 'कुछ' क्या है, यह मेरे लिए एक अमर प्रश्न है।

———

'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे'

सहज-सलोना-साँवला आषाढ़ आज ही तो आया है !

सबेरे ही आज प्रकृति की आँखो में कोई मूक विह्वल रहस्य झाँक-झाँक जा रहा था। वसुन्धरा किसी अभिनव/अनजान अनुभूति के झीने स्पर्श से सिहर-सिहर कर चिहुँक उठती थी, और तब तक अपराह्न सूर्य की दुर्द्धर्ष-दुर्दान्त किरणों की साम्राज्यवादी शासन-सत्ता को कुचलती, रौंदती, क्रान्ति की विस्फोटपूर्ण शक्तियों की पुंजीभूत तड़फड़ाहट को बिजली-सी सँजोए, फड़फड़ाती, गरजती, उनचास पवनों के पंखों पर चढ़कर काले मेघों की यह अक्षौहिणी सेना क्षितिज के न जाने किस कोने से उमड़-उमड़ कर सारे आकाश में छा गई हैं।

आज न तो वह 'कश्चित' प्रवासी यक्ष है, न वह 'रुचिर प्रासाद हर्म्या' अलकापुरी और न 'जनकतनया स्नानपुण्योदक' वह रामगिरि आश्रम। आज कालिदास भी नहीं हैं जिनकी कल्पना के स्पर्श से फुहारो के बने हुए बादल भी सजीव सस्पन्द होकर केवल अँजुरी-भर फूल के बदले गिरि-वन-नदी पार कर विरहिणी यक्षिणी तक प्रियतम का संदेश पहुँचा सकें। कलकत्ते की अट्टालिकाओं की धूमिल छाया में खोये-से, ट्रामों-बसों के कोलाहल में डूबे, एक जीर्ण-शीर्ण मकान की छत पर मुँडेरे के सहारे खड़ा एक युवक अंतरिक्ष के रंग-मंच पर का यह रोमांच-अभिनय निर्निमेष देख रहा है और उन दौड़ते-भागते चपल विह्वल मेघों के प्रति एक मूक प्रश्न मानो रह-रह कर उसकी आँखों में उभर आता है—"तुमने किसी के पास किसी का संदेश कभी पहुँचाया था—क्या यह सच है ?"

आज आठ महीने हुए वह कलकत्ते नौकरी की तलाश में आया था। नौकरी मिल गई, मित्रों ने इस असम्भाव्य, अकल्पित सुयोग के

लिए बधाइयाँ दीं। दावतों के तक़ाजे हुए, घर पर सत्यनारायण की पूजा हुई, माँ ने मिठाइयाँ बाँटीं, पिता ने सभी रिश्तेदारों को पत्र द्वारा यह शुभ सूचना दी। फिर सभी हितचिन्तकों ने आराम की साँस ली—प्रकाश एक ठिकाने लग गया।

इसके बाद महीना बीता, दो महीने, चार महीने, शरद के बाद शिशिर, फिर बसंत और फिर गरमी। प्रकाश कलकत्ते जैसे बड़े स्थान में नौकरी कर रहा है, ओहदा अच्छा है, काम आराम का है। रुपये भी आवश्यकता के अनुसार कुछ मिल ही जाते हैं और इसके अतिरिक्त बड़े लोगों से कुछ मिलता-जुलता रहता है। उच्च श्रेणी में उसकी पहुँच है, बड़े स्थान की बड़ी सम्भावनाएँ होती हैं। बड़े अवसर होते हैं, उसके भविष्य का मार्ग प्रशस्त है। सभी को उसके ऊपर गर्व है, भरोसा है, सभी उसकी ओर से सुखी हैं। यदि कोई दुःखी है तो केवल एक ही, सुकुमार नन्हाँ-सा प्राण—उसकी नवविवाहिता चन्दा।

चन्दा जानती है कि प्रकाश उसके लिए तड़प रहा होगा। वह यह भी जानती है कि प्रकाश जानता है कि वह इस बात को जानती है, फिर भी, सब कुछ जानकर भी उसने सदा नहीं जानने का बहाना किया है। स्त्री के लिए जानना ही सब कुछ नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष अनुभव चाहती है। ज्ञान के सहारे जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता, स्मृति और कल्पना के वृन्त में वास्तविकता के फूल नहीं उगते, अतीत और भविष्य की नोंक पर टँगे हुए वर्तमान से हृदय को शान्ति नहीं मिल सकती। चन्दा प्रकाश के प्रेम से अधिक प्रकाश को ही चाहती है। वह उसे देखना चाहती है, उसे स्पर्श करना चाहती है, उसे पाना चाहती है और जब तक वह उसे मिल न जाय, संसार की कोई भी विभूति उसे सुखी नहीं बना सकती।

प्रकाश सब कुछ जानता है, सब कुछ महसूस करता है, किन्तु संसार में चन्दा की वेदना और प्रकाश की अनुभूति की संयुक्त शक्ति से भी

अधिक बलवती शक्तियाँ हैं। वे दुर्लभ परिवार-सी बनकर मानो उन दोनों के बीच में आकर बिछ गयी हैं।

चन्दा जहाँ है, वह स्थान कलकत्ते से दूर है, बहुत दूर। फिर भी इतना दूर नहीं जितनी अलका-रामगिरि के आश्रम से रही होगी। प्रकाश इस परदेश में प्रवासी है, पर स्वदेश से निर्वासित नहीं। फिर भी आज आठ महीने हो गये और वह चन्दा को देख नहीं सका।

वह जिस आफिस में काम करता है, उसमें सारे वर्ष में एक ही बड़ी छुट्टी होती है—पूजा की और वह भी बड़ी इस अर्थ में कि पन्द्रह दिनों तक आफिस बन्द रहता है। किसी भी कामकाजी स्थान में इससे अधिक छुट्टियों की आवश्यकता ही क्या है?

एक बार एक मित्र के यहाँ कोई प्रयोजन था और प्रकाश को उसमें सम्मिलित होना आवश्यक था। उसने छुट्टी के लिए दरख्वास्त दी। आफिस के अंग्रेज मैनेजर ने उसे बुलाया और कहा—"वेल बाबू, हम इस बार छुट्टी ग्रांट करता है, आपको एक हफ्ते के लिए लीव विदा-उट पे मिलेगा।"

अत्यंत विस्मित होकर प्रकाश ने पूछा—"लेकिन अगर छुट्टी हुई तो लीव विदाउट पे क्यों?"

रजिस्टर उलटते हुए मैनेजर ने कहा—"आपका पन्द्रह दिन का छुट्टी ड्यू था, वह आप ले चुका...।"

"लेकिन मैं तो बीमार था!"

"जो भी हो, अब और तो ड्यू है नहीं, इसलिए लीव विदाउट पे मिलेगा। फिर आगे छुट्टी मिलेगा नहीं...अच्छा, अब आप जा सकता है।"

अत्यन्त दार्शनिक भाव से इस घटना पर विचार करने पर प्रकाश को लगा कि इसमें दोष किसी का भी नहीं है। मैनेजर का नहीं, आफिस का नहीं, मालिकों का भी नहीं। इसमें दोष केवल उस मनोवृत्ति का है-

जो सप्राण, सचेतन व्यक्ति को निर्जीव यंत्र की तरह निःसंग होकर काम में लाती है और फिर घिस जाने पर उसे निर्मम भाव से निकाल फेंकती है। उसे अनुभव करने का समय नहीं है, द्रवित होने का अवकाश नहीं है, सहानुभूति दिखाने की गुंजाइश नहीं है। वह तो कार्य-शक्ति चाहती है—चिर-नवीन, चिर-जाग्रत, चिर-तत्पर जिसकी अविरल आहुति से वह उत्कर्ष की वह्नि-शिखा की उच्छ्वसित धूम्र-राशि बनकर प्रतियोगिता के वातावरण मे ऊँचे से ऊँचा उठ सके। वह रक्त-मांस के बदले तेल और कोयला चाहती है, व्यक्ति के बदले यंत्र। और उस शक्ति से टकराकर प्रकाश की सारी इच्छाएँ, चन्दा के सारे अरमान चूर-चूर होकर बिखर गये।

सन्ध्या के यौवन में मेघ लावण्य बनकर भीन गए थे। हवा में भरी हुई फुहारें आलिंगन में जकड़े हुए किसी कम्पित-हृदय के आर्द्र पुलकित निःश्वासों की याद दिला रही हैं। बहुत यान-यंत्रों के मिश्रित कोलाहल को चिरती हुई किसी अकेली कोयल की पतली आवाज न जाने किधर से चू पड़ी। धुँए और गैस से दुखती हुई प्रकाश की आँखो के सामने कितने ही चित्र बिखर पड़े। और तब चन्दा का वह मलिन-विषण्ण, आधा हँसता आधा-रोता मुख आकाश की सजल-श्यामल पृष्ठभूमि पर रेखाचित्र बनकर खिंच-सा गया, जब कि चलते समय उसने कुछ हँसी में और कुछ आन्तरिक गम्भीरता से कहा था—"मुझे भी अपने साथ ही कलकत्ते ले चलो न!"

प्रकाश ने कहा था—"कलकत्ते जाने पर मैं तुम्हें बुला लूँगा।" इसके बाद चन्दा के जितने भी पत्र आते, सब में यही रहता—'तुम मुझे बुलाते क्यो नहीं?' और प्रत्येक के उत्तर में प्रकाश लिखता—'घबड़ाओ नहीं, तुम्हें अवश्य बुलाऊँगा।'

और इसी प्रकार आठ महीने बीत गए, न तो प्रकाश चन्दा के पास जा सका, न उसे अपने पास बुला ही सका। कलकत्ते में परिवार

रखने का प्रश्न साधारण नहीं है। जो थोड़े-से रुपये उसे मिलते हैं, उनमें अपना खर्च चलाना, भाइयों को पढ़ाना, घर पर भेजना और फिर हो सके तो पुराने कर्ज चुकाना, बहुत से काम हैं। इसके अतिरिक्त हित-मित्रों की भी समय-समय पर सहायता करते ही रहना पड़ता है। ऐसी अवस्था में चन्दा को यहाँ बुलाकर विदेश में गृहस्थी जमाने का साहस करना आसान नहीं है।

पर प्रकाश के जीवन में चाहे एक हजार बातें हों चन्दा के जीवन में तो केवल एक ही बात है—प्रकाश। जो बात उसकी समझ में आती है वह यह कि प्रकाश उसे अपने पास बुलाना नहीं चाहता, जो बात समझ में नहीं आती, वह यह कि आखिर क्यों नहीं? आज से दो महीने पहले उसका अन्तिम पत्र आया था, उसने उसमें यही प्रश्न अन्तिम बार पूछा था। प्रकाश इसका कोई भी समुचित उत्तर नहीं दे सका और तब से चन्दा का कोई उत्तर नहीं आया।

अंधकार घना होता जा रहा है, बिजलियों की आतिशबाजी छूट रही है, धुएँ की कुण्डलियों में छन-छन कर सड़क की रोशनी की एक उदास रेखा अत्यन्त दार्शनिक भाव से छत पर आ बिछी है। एकाएक बादल घहरा उठे, पर प्रकाश आत्मविस्मृत-सा क्षितिज में आँखें गड़ाये न जाने क्या-क्या सोच रहा है।

यक्षिणी वीणा बजाकर प्रियतम के विरह के गीत गा सकती थी। पर चन्दा न तो वीणा बजा सकती है, न विरह के गीत गाने की घर में स्वतंत्रता ही है। यक्षिणी अलका-निवासिनी थी, विलास ही उसके जीवन की पृष्ठभूमि थी और कला ही उसकी एकमात्र साधना। पर चन्दा देहात में रहती है, गृहस्थी ही उसका क्षेत्र है और घर का काम-काज ही उसका जीवन। 'एको रसः करुण एव' के कवि की कल्पना में उसकी रूप-रेखा अँटती ही नहीं; विप्रलंभ के गायक की वीणा के स्वर में उसका स्वर

मिलता ही नही, विरह के चित्रकार की तूलिका पर चढकर उसकी झाँकी उतरती ही नहीं। सत्य और कल्पना क्या इतने भिन्न हैं ?

कालिदास झूठे हैं, काव्य प्रवंचना है, यक्ष, यक्षिणी, अलकापुरी, रामगिरि आश्रम सभी शून्य कल्पनाएँ हैं। दूत बनकर संदेश-वहन करने वाला वह 'वप्रक्रीडा परिणत गज प्रेक्षणीय' मेघ विकृत-मस्तिष्क का विराट विभ्रम है। संसार मे स्थूल-स्थावर सत्य है—कलकत्ते की ये पीषाणी अट्टालिकाएँ, इनकी अँधेरी कोठरियो मे का यह पाशविक जीवन, आफिस की मेजें, फाइलें, मैनेजर की मोटी तोद, अनवरत चलती रहने वाली अक्लान्त, अक्षुब्ध इन ट्राम-बसो का अनन्त जाल, धुँए और कुहासे का यह उमडता हुआ समुद्र और अन्त मे आषाढ़ के पहले दिन का यह पहला डरावना बादल जो गरजता है, तडपता है, झकोरता है, किन्तु···किन्तु···

प्रकाश एकाएक चौक उठा। जीने में से धम-धम की आवाज आई। नीचे से किसी ने पुकारा—

"प्रकाश बाबू का फ्लैट यही है क्या ?"

"कौन है ?"

"प्रकाश बाबू यहीं रहते हैं ? अरे भइया !"

"किशोर !"

छोटे भाई किशोर ने प्रकाश के पैर छुए।

"तुम यहाँ ऐसे ?" प्रकाश को मानो अपनी आँखों पर विश्वास ही नहीं।

"आपको मेरा तार नहीं मिला ? भाभी भी तो आई हैं !"

"अरे चन्दा ! कहाँ है ?"

"नीचे टैक्सी में।"

"कुशल तो है ?"

किशोर हँसने लगा। "हाँ, कुशल ही है। बस, आपकी ही चिन्ता थी। नीचे चलिए।"

× × ×

'अविदितगत यामा रात्रि' में जब अत्यन्त सकुचाती सिहरती प्रकाश की छाती में मुँह छिपाकर चन्दा ने स्वीकार किया कि निगोड़े मेघों ने उसे ऐसी बावरी बना दिया कि वह उसके बिना कहीं भी रुक ही न सकी, तो आकाश में बिजली खिलखिलाकर हँस पड़ी। साथ ही अन्तरिक्ष में कालिदास की आत्मा कहीं कराह उठी—यही बात मुझे भी क्यों नहीं सूझी।

———

का ब्रातौ···?

बहुत दिन हुए, एक युग-सा बीत गया। तब मैं घर पर ही पढ़ता था। फर्स्ट बुक, अमरकोश, अष्टाध्यायी, अंक गणित और याद नहीं, संस्कृत की एक और कौन-सी किताब थी। पढ़ाने के लिए एक मास्टर साहब आते थे और एक पंडित जी। मास्टर साहब कायस्थ थे, एक बूढ़े आदमी। पान बहुत खाते थे, कमर से कुछ झुक गए थे और गर्मियों में भी कान में गुलूबन्द और पैरों में पट्टियाँ बाँधते थे। पढ़ाते कम थे और कहानियाँ अधिक कहते थे और मारते बिल्कुल न थे। मुझे याद है कि उनके मरने पर मैं बहुत रोया था। पंडित जी अधेड़ थे। तोंद बहुत बड़ी थी और मुँह कुछ टेढ़ा था। थे तो वे सीधे आदमी, लेकिन मैं उनसे बहुत डरा करता था। जो कुछ पढ़ाते, सुन लेता; जो कहते, उसे याद कर लेता; लेकिन उनसे बोलता बहुत कम। कितनी ही बार गर्मियों में जब हैजे का प्रकोप शहर में होता तो मैं मन ही मन मनाता कि ऐसा भी कभी सुनाई पड़े कि पंडित जी बीमार हैं, लेकिन ऐसा हुआ कभी नहीं। उधर चाची संध्या समय तुलसी के चबूतरे पर चिराग़ रखतीं, इधर नौकर आकर खबर देता कि पंडित जी आ गये।

हमारा घर शहर के बाहर था। छोटा-सा मकान था, सामने बहुत बड़ा हाता। तीन ओर आम और अमरूद के बगीचे थे और सामने डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़क। हाते में एक पक्का कुआँ था और ताड़ के बड़े-बड़े दो पेड़। सामने सड़क के उस पार एक पुराना खंडहर था जिसमें चाचाजी से छिपकर मैं लट्टू नचाया करता था। आसपास मकान बहुत कम थे और शाम को खोंमचेवाला जब पकौड़ियाँ तथा दही की चाट बेंचकर चला जाता, उसके बाद सड़क पर बिरला ही नज़र आता।

सावन का महीना था, रात का समय। चबूतरे पर दरी बिछाकर मैं पढ़ रहा था। पंडित जी एक श्लोक का अर्थ बतला रहे थे। दक्ष ने युधिष्ठिर से चार प्रश्न पूछे थे—'का वार्ता किमाश्चर्य कः पंथाः कश्च मोदते?' अर्थ पंडित जी ने क्या बताया, मैं खाक-पत्थर कुछ नहीं समझा। अन्त में तोंद पर हाथ फेरते हुए पंडित जी चित्त लेट गए। मुझसे कहा—"यह श्लोक घोख जाओ" मैं घोखने लगा। धीरे-धीरे पंडित जी की नाक बजने लगी। रात सुनसान थी, हवा वेग से बह रही थी। लैंप रह-रह कर भभक उठता था। ताड़ के पत्तों की खड़-खड़ाहट, झींगुरों की झनकार, पीछे के मकई के खेत में गीदड़ों का कोरस और साथ-साथ पंडित जी की नाक का गम्भीर गर्जन डर के मारे मैं आँखें मूँद, किताब मुँह से लगा सिमटकर बैठ गया। एकाएक पंडित जी की आँखें खुल गईं। बोले—"घोख लिया?"

मैंने धीरे से श्लोक सुना दिया। पंडित जी बहुत प्रसन्न हुए। बोले—"अच्छा, इसका अर्थ कह जाओ।" किन्तु मैं अर्थ नहीं कह सका। उन्होंने फिर अर्थ बतला दिया। मैं फिर कुछ नहीं कह सका। उन्होंने एक बार फिर बतलाया। मैं फिर कुछ कह नहीं सका। पंडित जी कुछ विरक्त हुए, फिर चादर और टोपी सम्भाली, बोले—"अच्छा, कल इसका अर्थ लिखकर रखना। तुममें बुरी आदत है, पढ़ते-पढ़ते सोने लगते हो।" याद नहीं आता, दूसरे दिन उसका अर्थ लिखकर दिखाया या नहीं, पर इतना कह सकता हूँ कि उसका अर्थ जितना उस दिन समझा था उससे अधिक आज तक नहीं समझ पाया हूँ।

× × × ×

एम० ए० का इम्तहान देकर जब मैं छुट्टियों में घर आया, तो अपनी बड़ी भतीजी मिनी को स्वयं पढ़ाने का निश्चय किया। मिनी संस्कृत की प्रथमा की तैयारी कर रही थी। साहित्य में तो खूब गप्पें लड़ा लेती थी, डरती थी केवल व्याकरण से। एक दिन पढ़ाते-पढ़ाते यही प्रसंग

आ गया। दक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा—'का वार्ता, किमाश्चर्य पंथाः कः कश्च मोदते ?'

मिनी ने पूछा—"चाचा जी, इसका अर्थ क्या हुआ ?"

मुझे सोलह साल पहले की वह रात याद आ गई, जब यही श्लोक मैंने भी पढ़ा था। मैंने सीधा-सादा अर्थ बता दिया—'क्या बात है ? आश्चर्य क्या है ? मार्ग कौन-सा है ? और सुखी कौन है ?'

लेकिन न तो मिनी मेरी तरह सीधी-सादी थी, न मैं अपने पंडित जी की तरह गहन गम्भीर। सावन की वह अँधेरी रात भी न थी। उसने नाक-भौं सिकोड़कर कहा—"लेकिन……"

मैंने पूछा—"लेकिन क्या ?"

"दक्ष ने ये चार सवाल क्यों पूछे ? फिर इन सवालों का आपस में सम्बंध क्या हुआ ?"

मैं सिर खुजलाने लगा।

"और दूसरे सवाल भी तो पूछे जा सकते थे, इन्हीं सवालों में ऐसी कौन-सी विशेषता है ? यदि दक्ष को युधिष्ठिर की परीक्षा ही करनी थी तो क्या वह इससे अधिक कठिन सवाल नहीं पूछ सकता था ? ये तो बुझौवल से जान पड़ते हैं।" मिनी की भौंहें सिकुड़कर धनुषाकार हो गईं।

मैं उसकी तार्किक शक्ति पर मन ही मन बहुत प्रसन्न हुआ। उसकी शंका का समाधान करना कठिन था। सचमुच ये ऐसे कौन-से प्रश्न थे जिनके लिए दक्ष की मुक्ति रुकी पड़ी थी। मैंने कहा—"पढ़ती जाओ, पुरानी कथाओं में तर्क की ज्यादा गुंजाइश नहीं होती।"

पाठ आगे चला। थोड़ी देर बाद मिनी ने फिर नाक सिकोड़ना शुरू कर दिया। मैंने पूछा—"अब क्या हुआ ?"

वह बोली—"युधिष्ठिर के उत्तरों में भी कोई विशेषता नहीं है। इसके कितने ही जवाब हो सकते हैं। ऐसे जवाब तो मैं भी दे सकती हूँ।"

मैंने कहा—"सो तो मैं भी जानता हूँ। अगर ऐसा न होता तो तुम्हारा व्याकरण आज कभी का खतम हो गया होता।"

मिनी झेंप गयी। उस दिन वेदव्यास को मन ही मन प्रणाम करके मैंने कहा—"क्षमा करना भगवन्, मेरे लिए आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद भी उतना कठिन नहीं है, जितना इन प्रश्नों का अर्थ।"

एक दिन मैं आँगन में बैठकर अपनी पुरानी साइकिल की मरम्मत कर रहा था। इतने में मिनी के भाई विनोद ने आकर कहा—"चलिए, आपको बाहर बाबूजी बुला रहे हैं।"

मैंने कहा—"पूछ आओ, क्या काम है।"

"चलिए भी तो, कुछ लोग आपसे मिलने आये हैं।"

मैंने कहा—"अच्छा, चलो आता हूँ।"

मैंने साइकिल का आखिरी पेंच कसा, इतने में मिनी उफनाई हुई पहुँची और बोली—"अम्मा, दिल्ली से वे लोग आये हैं।"

भाभी मेरे पास ही बैठी चिट्ठी लिख रही थीं, बोली—"नहीं, सच ?"

हाँफते हुए मिनी ने कहा—"झूठ थोड़े ही कहती हूँ, चलो देख लो।"

भाभी ने हँसकर कनखियों से मेरी ओर देखते हुए कहा—"अच्छा, तू चल, नाश्ता ठीक कर।" मिनी चली गई। भाभी बोली—"विनोद, ज़रा भोला से कह दे, दो बाल्टी पानी लेता आवे।"

मैं साइकिल कसकर उठ खड़ा हुआ। भाभी बोली—"ठहरो, अभी कहाँ चले ?"

मैंने पूछा—"क्यों, अब क्या काम है ?"

हँसकर उन्होंने कहा—"ऐसे ही जाओगे ? सगाई का मामला है कि ठट्ठा ?"

"तो क्या मेरा शृङ्गार होगा ?"

"होगा ही सेंत की दुलहिन लोगे ?"

मैंने खीझकर कहा—"मैं यह सब नहीं जानता। मैं ये सब झगड़े मोल नहीं लूँगा।"

इतने में ही भोला पानी की बाल्टियाँ लेकर पहुँच गया। मैंने देखा, मामला बढ़ रहा है। भाभी की नज़र बचाकर भागना चाहा; तब तक उन्होंने देख लिया और झपट कर मेरे गाल में साइकिल का काला ग्रीज़ पोत दिया, बोलीं—"अब देखूँ, कहाँ भागते हो।"

लाचार होकर मैं नहाने बैठा। आखिर पौन घण्टे बाद शान्तिपुरी महीन धोती, जालीदार गंजी और मलमल का कुर्त्ता पहनाकर, मुँह में स्नो लगाकर बाल झाड़कर भाभी ने कहा—"हाँ, अब जा सकते हो।"

मैंने बाहर अपने कमरे में जाकर कुर्त्ता उतार कर फेंक दिया और सँवारे हुए बालों को किंचित् बिखरा कर इण्टरव्यू के लिए हाज़िर हुआ।

भाभी ने शादी के लिए जितना ज़ोर दिया, मैंने उतना ही विरोध किया। लड़की उनकी मौसेरी बहन की रिश्ते में ननद लगती थी। फोर्थ इयर में पढ़ती थी। अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में कई बार मेडल पा चुकी थी। लोग कहते थे कि अत्यन्त सुन्दरी थी और सबसे अधिक यह कि स्वराज्य-संग्राम में एक बार जेल भी जा चुकी थी, किन्तु मैंने फिर भी विरोध किया।

विवाह के विषय में मेरे विचार बहुत ही कट्टर थे। मैं अपने कालेज के 'मैरेज रिफार्म लीग' का सेक्रेटरी था। जब तक शिक्षा पूरी न हो

जाय और मनुष्य स्वावलम्बी न हो जाय, तब तक उसका विवाह करना मैं भीषण सामाजिक अपराध समझता था। भारत की जनसंख्या के प्रश्न पर दर्जनों लेख लिख चुका था और सन्तान-निग्रह और वैवाहिक सुधारों पर डिबेटिंग सोसाइटी की मीटिंगों में कितनी ही बार ज़ोरदार शब्दों में बोल चुका था। लड़की चाहे विद्या में मैत्रेयी और रूप में उर्वशी ही क्यों न हो, मैं अपने निश्चय से नहीं डिग सकता था।

भाभी ने मुझे राजी करने का कोई भी उपाय बाकी नहीं रखा। आँखों में आँसू भरकर यहाँ तक कह दिया—"अगर आज अम्मा जी होतीं, तो तुम यों उनकी बात कभी न टालते। मैं तुम्हारी कौन होती हूँ।" मैं इसका उत्तर कुछ भी न दे सका। केवल रात को जब खाने का समय हुआ, तो सरदर्द का बहाना करके सो रहा। भाभी ने सुना तो अपने हाथ से थाल परस कर लाईं और ज़बरदस्ती क़सम देकर खिलाया। इसके बाद विवाह का नाम किसी ने नहीं लिया।

एक दिन दोपहर को मैं यूनिवर्सीटी लाइब्रेरी गया था। वहाँ से लौटा तो देखा, अभी भाई साहब कचहरी से नहीं लौटे थे। मिनी किसी लड़की से मिलने गई थी। मैं अपने कमरे में घुसा। भाभी हाथ में 'चित्ररेखा' का विशेषांक लिए पलंग पर लेटी हुई पढ़ रही थीं।

मैंने पुकारा—"भाभी।"

लेकिन भाभी ने मानो कुछ सुना ही नहीं। मैं पलंग के नज़दीक चला गया और उनका सिर अपनी ओर घुमाया। देखा, भाभी रो रही हैं और उनका आँचल और तकिया आँसुओं से भींग गया है। मैं घबड़ा गया, पूछा—"क्यों कुशल तो है?"

भाभी कुछ नहीं बोलीं, विशेषांक पलंग पर रखकर आँचल से आँसू पोछने लगीं। मैंने विशेषांक उठा लिया। अभी मैं पन्ने उलट ही रहा था कि भाभी ने झपटकर उसे मेरे हाथ से छीन लिया और बिना कुछ कहे-सुने कमरे के बाहर चली गयीं। मैं भौंचक्का-सा खड़ा रह गया।

अन्त में रात को इसका रहस्य खुला। विशेषांक में एक कहानी छपी थी और उसी कहानी को पढ़कर भाभी रो रही थीं। भाभी मुझसे नाराज़ थीं, बहुत नाराज़। रात को दूध में मिश्री के बदले फिटकरी डाल दी। मैंने टोका, तब बिगड़ खड़ी हुईं। बात यह थी कि वह कहानी उसी लड़की की लिखी हुई थी जिससे विवाह करना मैंने अस्वीकार कर दिया था। वह कहानी इतनी कारुणिक थी कि वे अपनी रुलाई न रोक सकीं और मुझ पर वे इसलिए बिगड़ी थीं कि मेरी ही बेवक़ूफ़ी से ऐसी सुयोग्य लड़की हाथ से निकल गई।

दूसरे दिन मैंने भी वह कहानी पढ़ी। कहानी सचमुच बहुत ही सुन्दर थी। एक एक शब्द से लेखिका के हृदय की व्यथा टपक रही थी। पढ़कर मैं बहुत देर तक आत्मविभोर-सा बैठा रह गया। शब्दों के स्पर्श से अनुभूतियाँ उठीं। मेरे कल्पना-पटल पर वेदना का करुण संगीत गुन-गुनाती हुई किसी स्वप्निल बाला का चित्र-सा उभर आया।

इतने में ही भाभी कमरे में आईं। मैंने उल्लासपूर्वक कहा—"भाभी, सचमुच ही यह बड़ी ही सुन्दर कहानी है! जान पड़ता है···"

भाभी ने आग्नेय नेत्रों से मेरी ओर देखा। मैं रुक गया। भाभी के सामने उसकी तारीफ़ करना तो जले पर नमक छिड़कना था। मैं अपनी ग़लती पर मन ही मन पछताने लगा। उसी दिन विशेषांक चुरा कर अपने एक मित्र को दे आया।

मैंने सम्मान के साथ एम० ए० पास किया और रिसर्च स्कालर हो गया। मेरे भाई साहब यूनिवर्सीटी के सिनेट के मेम्बर थे। एक दिन मैं अपने कमरे में बैठकर कुछ पढ़ रहा था। इतने में ही वे मुस्कराते हुए आये और बोले—"नवीन, तुम्हारे लिए एक अच्छी ख़बर है।"

मैंने अचकचाकर पूछा—"क्या?"

"वाइस चांसलर से मुलाकात हुई थी। कह रहे थे कि महाराज सोनखर ने हर साल पाँच हजार रुपये का एक पुरस्कार हिन्दी की सर्वो-

त्तम साहित्यिक पुस्तक के लिए देना स्वीकार किया है। पुरस्कार केवल विद्यार्थियो को ही मिलेगा—चाहे वे किसी भी कालेज के हों।"

मैंने पूछा—"अभी यह खबर अखबारो में नहीं निकली है।"

"नहीं, कन्वोकेशन में इसकी घोषणा की जायगी। तुम्हारे लिए अच्छा चांस है। कोशिश करो।"

सचमुच मेरे लिए यह बड़ी अच्छी खबर थी। कहानियाँ लिखने के लिए मैं काफ़ी प्रसिद्धि पा चुका था। मुझे कितने ही पुरस्कार भी मिल चुके थे। मैंने निश्चय किया कि इस प्रतियोगिता में भाग लूँगा। मैंने पूरे मनोयोग से परिश्रम करना शुरू कर दिया। करीब चार महीने में एक उपन्यास तैयार हो गया। उसका नाम था 'ईश्वरीय न्याय' भाभी ने उसे बहुत पसन्द किया। भाई साहब ने पढ़ा तो उछल पड़े; बोले—"एक नवयुवक की कलम से इससे सुन्दर रचना की आशा ही नहीं की जा सकती और विषय भी तुमने खूब सोचकर चुना है, वाह!"

लेकिन मिनी की नाक पर सिकुड़न पड़ गयी; बोली—"सो तो ठीक है, किन्तु···"

ऐसे गहन में विषय मिनी का भी दखल हो सकता है, भाई साहब ने इसकी कल्पना तक नहीं की थी; बोले—"किन्तु क्या?"

मिनी ने कुछ सकुचाकर कहा—"किताब लिखी तो गई है बहुत ठीक, लेकिन विषय,···विषय का चुनाव मुझे पसन्द नहीं है।"

भाई साहब ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा, मानो उन्हें अपने कानों पर विश्वास न हो रहा हो। फिर बोले—"विषय मुझे पसन्द नहीं है! क्यों, उसमें क्या ऐब है?"

"क्या ऐब है, सो तो मैं नहीं कह सकती।" मिनी ने कुछ सहम कर कहा—"लेकिन मुझे लगता है कि ईश्वरीय न्याय एक ऐसा प्रश्न है, जिसके कई पहलू हैं और···और उसके किसी एकमात्र पहलू को लेकर

उस पर कहानी खड़ी करना और फिर उसके आधार पर कोई सिद्धान्त-निर्माण करना ठीक नहीं। या तो इसके सब पहलुओं को लेकर चलना चाहिए जो असम्भव है और नहीं तो..."

भाई साहब ने आश्चर्य से बात काटकर कहा—"अरी वाह री मिनिया! यह तो एक दम डिबेटर की तरह बोलती है। मैं तो जानता ही न था कि...सुनते हो, नवीन!"

मैंने हँसकर कहा—"मिनी का कहना ग़लत नहीं है। और सच पूछिए तो..."

तब तक भाभी आ गईं। भाई साहब ने कहा—"सुनती हो जी, तुम्हारी बेटी तो इतने ही दिनों में बहुत पढ़ गई।"

भाभी समझीं मज़ाक कर रहे हैं; बोलीं—"अगर आप लोग पढ़ने-लिखने की ऐसी ही क़द्र करते तो फिर दिल्ली वाली शादी ही क्यों छूटती? यहाँ तो सब धान बाइस पसेरी।" मैंने देखा, मामला दूसरा रुख पकड़ रहा है। धीरे से हट गया।

कुछ दिन बीते। एक दिन भाई साहब ने मुझसे कहा—"नवीन, मिनी की छोटी मौसी की शादी है। छह रोज़ और हैं। सबको लेकर तुम्हें जाना होगा।"

"और आप?"

"मैं तो नहीं जा सकूँगा। उसी दिन सेशन्स केस है। ख़ून का मुकदमा है। मुझे बिल्कुल फ़ुरसत नहीं है।"

भाई साहब काम का बहाना करके निकल गए। भाभी ने मुझे पकड़ा। आखिर सबको लेकर मुझे जाना ही पड़ा।

पन्द्रह दिन तक वहाँ रहकर पीली धोती का जोड़ा और बिदाई की गहरी रक़म लेकर मैं अकेला ही लौटा। छोटा स्टेशन था। पैसिंजर के सिवाय वहाँ कोई दूसरी ट्रेन नहीं रुकती थी। बीच में लखनऊ

पड़ता था। आखिर मैं लखनऊ उतर गया। वहाँ एक दिन ठहर कर कालेज के पुराने मित्रों से मुलाक़ात की, फिर दूसरे दिन रात की एक्स-प्रेस से रवाना हुआ।

ट्रेन पटने सुबह चार बजे पहुँचती थी। रात भर का सफ़र था। मेरे कम्पार्टमेंट में भीड़ कम थी। एक खाली बेंच मिल गई। एक्सप्रेस में थर्डक्लास में रात के समय सोने के लिए पूरी बेंच का मिल जाना बहुत आश्चर्यजनक न होने पर भी उल्लेखनीय तो अवश्य है। मैंने आराम से बिस्तर बिछा दिया और अपने एकाधिपत्य को सुरक्षित रखने के लिए असबाब को इस तरह अटका रखा कि कोई इधर न आ सके। फिर एक नावेल लेकर पढ़ने लगा।

पढ़ते-पढ़ते कब नींद आ गई, मैं नहीं कह सकता। एकाएक आँख खुली तो देखा कि कम्पार्टमेंट में पहले के जितने यात्री थे, सब उतर गए हैं और उनके स्थान में कुछ नये आदमी आ गए हैं। मैं अँगड़ाकर आँखें मल रहा था, इतने में आवाज़ आई—"हलो नवीन।"

मैंने अचकचा कर देखा—"कौन ? पंकज !"

पंकज लपक कर मेरी बेंच पर चला आया। पंकज मेरा पुराना सहपाठी था। इण्टरमीडियट में एक साल लेक्चर कम हो जाने के कारण पंजाब यूनिवर्सीटी में चला गया था। एक मुद्दत के बाद हम दोनों की मुलाकात हुई थी। कुशल-समाचार पूछने के बाद मैंने पूछा—"तुम्हारे साथ और कौन-कौन है ?"

"मेरी स्त्री है, पिताजी हैं, दो बच्चे हैं और मेरी फुफेरी बहन है। उसने इसी साल पंजाब यूनिवर्सीटी से फर्स्टक्लास में बी० ए० पास किया है। उसका नाम तो शायद तुमने सुना भी हो। पत्रों में अकसर लिखा करती है।"

"क्या नाम है ?"—मैंने पूछा।

"निर्मला···"

"कौन, निर्मला वर्मा ?"

"हाँ, हाँ, वही।"

मैं सिहर पड़ा—अरे यह तो वही है !'

अब पंकज ने सबसे मेरा परिचय कराना शुरू किया। उसकी स्त्री बच्चे को दूध पिला रही थी। उसने आव देखा न ताव, बोला—"मीना, ये हैं मेरे पुराने मित्र और सहपाठी मि० नवीन चन्द्र सिनहा। हम लोग..."

उसकी स्त्री शरम से गड़ी जा रही थी। मैं भी बड़े धर्मसंकट में पड़ा। तब तक निर्मला ने स्थिति सम्भाली, सिर का आँचल ठीक कर वह सामने खिसक आई। पंकज ने उत्साहपूर्वक कहना शुरू किया—"निर्मला, तुमने इनका नाम तो ज़रूर सुना होगा। तुम्हारी तरह इन्हें भी साहित्य का ख़ब्त है। हफ्ते में पाँच रोज़ तो ये कहानी लिखते हैं और बाकी दो रोज़..."

निर्मला ने प्रणाम करते हुए किंचित् मुस्कराकर कहा—"अहोभाग्य कि अकस्मात् इस तरह आपके दर्शन हो गए।" मैंने क्या उत्तर दिया, याद नहीं; लेकिन इसी तरह की कोई बात मैंने भी कही होगी। इसके बाद पंकज को मुझे कुछ खिलाने की सनक सवार हुई, बोला—"कुछ खाओ।"

मैंने कहा—"वाह ! यह भी कोई खाने का समय है ?"

बीच में उसके पिताजी टपक पड़े; बोले—"आप लोग तो अभी नवयुवक हैं, आप लोगों के खाने का समय-असमय कैसा ? जब मैं आपकी उम्र का था, तब..."

इसके बाद सभी एक स्वर में बोल उठे—"नहीं, आपको खाना ही होगा।"

मैं बड़ी विपत्ति में पड़ा; कहा—"यह तो तुम बड़ा अत्याचार कर रहे हो। भला बतलाओ, यह भी कोई समय है ?"

वह हँस कर बोला—"अगर खिलाने को ही अत्याचार करना कहते हो तब तो सबसे अधिक अत्याचार माँ अपने बच्चे पर करती है।"

निर्मला ने कहा—"अत्याचार अत्याचार ही है, चाहे माता करे या परमात्मा। ज़बरदस्ती चाहे जिस रूप में हो, अत्याचार ही है। हाँ, एक सूरत है जिससे इसका रूप बदला जा सकता है।"

"क्या?"—पंकज ने पूछा।

"यही कि मैं परसती हूँ और पहला कौर तुम ख़ुद उठाओ।"

सब हँस पड़े। अन्त में टिफ़िन-केरियर में से निर्मला ने मिठाइयाँ निकालीं और भूख न होने पर भी हम लोगों को खाना ही पड़ा।

खा चुकने पर पंकज ने कहा—"तुम्हारे आराम में बहुत ख़लल पड़ा। अब तुम सो रहो।"

मैंने कहा—"तुमने खाने में अत्याचार किया, अब सोने में भी अत्याचार करोगे? हाँ, तुम्हें नींद लगती हो तो दूसरी बात है।"

"नहीं, नहीं, मुझे तो ट्रेन में नींद लगती ही नहीं। अच्छा, यह कहो, आजकल तुम क्या कर रहे हो?"

इसके बाद इधर-उधर की बातें होने लगीं। इतने में ही निर्मला तश्तरी में पान लायी। पान मुझे देते हुए पंकज ने कहा—"नवीन, तुमने निर्मला के हाथ से कभी वीणा तो नहीं सुनी है?"

"कहाँ सुनी?"—मैंने उत्सुकतापूर्वक कहा।

"तो फिर..."

बात काटकर निर्मला ने कहा—"भैया, आप में बड़ी बुरी आदत है। जगह-बेजगह का ख़याल किये बग़ैर ही फ़र्मायश कर देते हैं। यह नहीं ख़याल करते कि..."

"तो कम्पार्टमेंट में कोई बाहरी आदमी तो है नहीं, बस हमीं लोग हैं।"—पंकज ने ज़र्दा मुँह में डालते हुए कहा।

"ट्रेन भी कोई गाने-बजाने की जगह है ?" भौंहे टेढ़ी करके वह बोली।

पंकज ने हँसकर कहा—"यह बहाना तो ख़ैर किसी दूसरे से तुम करना।"

निर्मला अनखाकर अपने बेंच पर चली गई। तब तक उसकी भाभी ने धीरे से चुटकी ली—"गाने-बजाने के लिए जगह-बेजगह क्या, यह तो उमंग की चीज़ है।"

"इतनी उमंग है तो फिर तुम्हीं क्यों नहीं बजाती ?" निर्मला ने तिनककर कहा।

"मुझे बजाना आता, तो तुम्हें कहना भी न पड़ता।"

"मामा सो रहे हैं, इसका भी कुछ ख्याल है ?" निर्मला ने कहा।

लेकिन मामा सोये नहीं थे। जैसी बूढ़ों की आदत होती है, आँखें बन्द किये पड़े थे; बोले—"मेरी ओर से खातिर जमा रखो। मुझे कोई डिस्टरबेन्स नहीं होगा। तुम शौक़ से बजाओ।"

हम सब लोग हँस पड़े। बहुत आनाकानी करने के पश्चात् अन्त में निर्मला ने वीणा बजाना स्वीकार किया।

बरसात के दिन थे। आधी रात बीत रही थी। फुहारें पड़ रही थीं। ट्रेन पूरी रफ्तार में थी। निर्मला ने देश की गत छेड़ दी। वीणा के पतले तारों से स्वर की तितलियाँ छिटक पड़ीं। चम्पाकली-सी पतली कोमल उँगलियों से कला चू पड़ी। उसकी आँखों में मीड़ की वेदना भर गई, ओठों पर मूर्च्छना मुस्कान बनकर नाच उठी। उस अनिन्द्य सौन्दर्य के ऊपर संगीत फूल की पंखुड़ियों के ऊपर शबनम के क़तरे की तरह छलछला उठा। कब तक हम लोग आत्म-विस्मृत से बैठे रहे, मैं नहीं कह सकता। गाड़ी बक्सर स्टेशन पर रुक गई। वीणा बन्द हो गई। हम लोग मानो जाग उठे।

वीणा रखते हुए निर्मला ने कहा—"आज रात भर आप जागते ही रह गए।"

मैंने कहा—"जागृति ही तो जीवन है और विशेष करके यदि उसे मधुर बनाने के लिए संगीत और सौन्दर्य···" मैं कहते-कहते सम्हल गया। पंकज ऊँघ रहा था। निर्मला ने लज्जा को मुस्कराहट में छिपा दिया। मैंने बात काट कर कहा—"आपकी जो रचना 'चित्ररेखा' के विशेषांक में निकली थी वह बहुत सुन्दर है। मेरी भाभी तो उसे पढ़ कर घंटों रोती रहीं।"

निर्मला ने कहा—"पटने में आपकी भाभी जी भी रहती हैं?"

"हाँ, लेकिन इस समय वे मायके गयी हैं।"

"अगर कभी मैं पटने आई तो उनके दर्शन ज़रूर करूँगी।"

"ज़रूर, ज़रूर, आपसे मिलकर वे कितनी खुश होंगी, मैं कह नहीं सकता।" बात सच भी थी और झूठ भी। निर्मला को देखने के बाद और चाहे जो होता, भाभी मेरा मुँह ज़िन्दगी भर न देखतीं।

मैंने पूछा—"इधर आपने कुछ लिखा है या नहीं?"

निर्मला ने कहा—"परीक्षा के कारण बहुत कुछ तो नहीं लिख सकी। केवल एक छोटा-सा उपन्यास लिखा है।"

"क्या नाम है?"

"तूफ़ान।"

"अच्छा, वह आपका ही उपन्यास है? उसकी तारीफ़ तो बहुत सुनी है। लेकिन पढ़ने का सौभाग्य नहीं मिला और···और आपने शायद उसे प्रतियोगिता में भी तो भेजा है?"

आँखें नीची करके निर्मला ने कहा—"हाँ, भेजा तो है; लेकिन वह यों ही है। जिस सिद्धान्त का मैंने उसमें प्रतिपादन किया है, जान पड़ता है, अब मैं उसमें स्वयं अविश्वास करने लग गई हूँ।"

"आपने उसमें किस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ?" मैंने पूछा।

निर्मला स्वप्निल की तरह कुछ रुककर बोली—"वह निराशा की घड़ियों में लिखी हुई कहानी है। मनुष्य के सिद्धान्तों पर मानसिक स्थिति का बहुत बड़ा असर पड़ता है और परिस्थितियों के साथ सिद्धान्त भी बदला करते हैं। जीवन एक अमर प्रश्न है और उस प्रश्न का उत्तर जो जिस स्थिति में है, वह वैसा ही देता है। प्रश्न एक ही है, उत्तर अनेक हैं। मैंने जो उत्तर दिया है, वह...वह..."

कुछ रुककर निर्मला फिर कहने लगी—"प्रश्न यह है कि संसार में नैतिक न्याय (Moral Justice) है या नहीं ? यदि है तो कहाँ है ? यदि नहीं तो क्यों नहीं ? जीवन में सुख के साथ दुःख है और छाया के साथ प्रकाश। किन्तु इसे देखते हुए भी हम सब कुछ भूल जाते हैं। जो अच्छा है वह ईश्वर करता है और जो बुरा है वह किसी दूसरे कारण से है। ऐसा क्यों ? संसार के जितने धर्म है उनका प्रधान कार्य है मनुष्य के कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करना। किंतु इस 'सु' और 'कु' के वर्गीकरण के लिए एक स्थायी नैतिक माप (Moral Standard) की ज़रूरत है और इसका अस्तित्व तब तक सुरक्षित नहीं रह सकता जब तक हम यह न जान लें कि संसार में नैतिक न्याय भी है। प्रश्न अन्त में घूम-फिरकर यहीं आ जाता है कि संसार में सुख-दुख का कोई नियम नहीं है तो धर्म और पाप का नियम क्यों हो ? यहीं से मनुष्य के हृदय में अशान्ति का तूफ़ान उठ खड़ा होता है और मुझे दुःख है कि मेरी पुस्तिका में भी यही तूफ़ान भरा हुआ है।

मैंने कहा—"आपका तर्क तो बहुत अंशों में अकाट्य है, आपने जीवन के इन शाश्वत प्रश्नों के जिस पहलू को रखा है, उसमें बहुत बड़ी सैंचाई है। मैं तो समझता हूँ कि......"

बात काटकर निर्मला बोली—"किन्तु मैं अब खुद ही अपने विचार-कोण से सन्तुष्ट नहीं हूँ। निराशा में चाहे कितनी भी सत्यता क्यों न

हो, वह प्रिय नहीं लग सकती। मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य है अपने को शान्त रखना और शान्ति बिना आशा के नहीं हो सकती, इसलिए आशा का सन्देश फैलाना कलाकार का पहला कर्तव्य है। इस लिहाज़ से मैं आपको बधाई देती हूँ कि आपने 'ईश्वरीय न्याय' में "काले से काले बादल का पृष्ठभाग रुपहला होता है (A silver lining in the darkest cloud)" इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करके सचमुच कलाकार का फ़र्ज़ अदा किया है और·······" निर्मला ने मुस्करा कर कहा—"और आप को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि मेरे विचारों में जो क्रान्ति हुई है, उसका बहुत बड़ा श्रेय आपकी इस रचना को है।"

स्त्री के मुख से अपनी तारीफ़ सुनना और वह स्त्री भी यदि निर्मला हो, वैसा ही है, जैसा किरणों पर चढ़कर नक्षत्र-लोक की सैर करना। दोनों ही अकल्पित सुख हैं। मुझे नशा चढ़ आया। निर्मला भी मानो कहती-कहती सकुचा-सी गई। इतने में ही पंकज जग उठा; बोला—"नवीन, तुम बैठे ही रह गए। मैंने तो भाई, एक नींद ले ली।"

निर्मला खिड़की की ओर मुँह फेरकर बैठ गई। सभी सो गए थे। कुछ इधर-उधर की बातें होने के बाद पंकज कहने लगा—"नवीन, तुम तो मेरे भाई के समान हो, तुमसे क्या छिपाना? निर्मला के विवाह के लिए इतनी चिन्ता लगी हुई है कि क्या कहूँ? तुम तो देख ही चुके। साक्षात सरस्वती है, सर्वगुणसम्पन्न। इससे अधिक सुयोग्य लड़की की कल्पना करना मुश्किल है। अब प्रश्न है इसके विवाह का। इसके पिता अर्थात् मेरे फूफा जी ने असहयोग आन्दोलन में सरकारी नौकरी छोड़ दी, तब से आज तक उसी में लगे रहे। जेल ही उनका घर-द्वार हो गया। इसकी शिक्षा हमारे घर हुई। पिता जी ने इसे पाला-पोसा। किन्तु अब इस समय इतनी गुंजाइश नहीं है कि कुछ खर्च करके किसी सुयोग्य वर के साथ इसका विवाह कर सकें। आजकल सुशिक्षित सच्चरित्र लड़के तो वैसे ही नहीं मिलते, अगर मिलते भी हैं, तो फिर

तिलक-दहेज़ का प्रश्न उठ खड़ा होता है। यहीं देखो, पटने में फूफा जी ने कोई लड़का तलाशा था, लड़का रिसर्च-स्कालर था, भाई हाईकोर्ट के एडवोकेट। सब कुछ ठीक था, लेकिन जब उन्हें यह मालूम हुआ कि रुपये नहीं मिल पायेंगे तो उन्होंने बहाना कर दिया कि लड़का शादी करने को राज़ी ही नहीं होता। अब तुम्हीं बताओ...''

मैं सिहर पड़ा। यह मेरा ज़िक्र था। पंकज कहता गया—"अब लड़कियों की शिक्षा का मूल्य क्या है? लड़की को पढ़ा-लिखा करके यदि किसी अयोग्य वर से उसका विवाह कर दिया जाय तो इससे बढ़ कर अत्याचार और क्या हो सकता है? नवीन, तुम तो युनिवर्सीटी में हो। कितने ही लड़कों को जानते होगे। इसका तुम ख़याल रखना।"

"ज़रूर, ज़रूर"—मैंने कहा—"अच्छा, यह बताओ कि तुम इधर पटने आ सकोगे या नहीं?"

"आने का कोई प्रोग्राम तो नहीं है; लेकिन हाँ, ज़रूरत पड़ने पर आ सकता हूँ।"

मैंने कहा—"मैं इसका पूरा ख़याल रखूँगा और ज्योंही मैं तुम्हें ख़त लिखूँ, तुम तुरन्त चले आना। क्यों ठीक न?"

"बिल्कुल ठीक है।" उत्साह से पंकज ने कहा।

गाड़ी आरा पार कर चुकी थी। पंकज फिर ऊँघने लगा। मैं सो नहीं सका। कितनी ही भावनाओं से मैं उद्वेलित हो उठा। अब भी समय था। निर्मला से विवाह करना अस्वीकार कर मैंने जो ग़लती की थी, उसे सुधारने का अब भी अवसर था। किन्तु मैरेज रिफ़ार्म लीग? उसका क्या होगा? लड़के मज़ाक उड़ायेंगे, पत्रों में आलोचनाएँ होंगी, मेरा अपना ही हृदय मुझे अपराधी ठहरायेगा मैं पशोपेश में पड़ गया।

किन्तु यह विवाह करना भी तो एक प्रकार की सेवा ही थी। मुझे विश्वास हो गया कि निर्मला मुझसे विवाह करके सुखी होती और

भाभी ? वे तो बच्चों की तरह मुझे गोद में उठा लेतीं। उनके आह्लाद का ठिकाना ही न रहता। उनका जीवन स्वर्ग हो जाता। इस मधुर सम्बंध के अनिर्वचनीय सुख की कल्पना से मुझे रोमांच हो आया। मेरा स्वर्ग मेरे हाथों में था। मैं गुनगुना उठा—"मैं अपना भाग्य-विधाता हूँ।"

पटना अब बहुत दूर न था। मैंने बिस्तर बाँधना शुरू किया। निर्मला जग उठी; बोली—"पटना आ गया क्या ?"

मैंने कहा—"अभी कुछ देर है।"

वह खिड़की के बाहर देखने लगी। एक साथ यात्रा करने में यात्रियों में आपस में एक प्रकार की आत्मीयता आ जाती है, एक दूसरे के नज़दीक आ जाते हैं। किन्तु जब यात्रा समाप्त होने लगती है, तब एक ठेस-सी लगती है कि यह परिचय एक स्वप्न था, माया थी और हृदय में विरक्ति जाग पड़ती है। जान पड़ा, निर्मला भी विरक्त-सी हो गई।

मैं मन ही मन हँसा। "इस परिचय का अन्त क्या होगा, तुम क्या जानो ? यह मिलन सुहागरात की मादकता में सपना बनकर बिखर जायेगा और······"मेरी कल्पना के तार झंकृत हो उठे।

बिस्तर बाँधकर खाली बेंच पर बैठते हुए मैंने कहा—"आप से एक अनुरोध कर सकता हूँ ?"

जिज्ञासा की दृष्टि से उसने मेरी ओर देखा।

"मेरी भाभी आपसे मिलकर बहुत प्रसन्न होंगी, इसलिए आप यदि कभी पटने आवें तो मुझे सूचना अवश्य दें। मैंने पंकज को अपना पता बतला दिया है।"

निर्मला ने कहा—"मैं अगर आई तो उनके दर्शन अवश्य करूँगी और तब तक आप मेरी तरफ़ से उन्हें एक छोटा-सा उपहार दे दीजियेगा।"

उसने सूटकेस खोलकर एक किताब निकाली और उस पर फाउण्टेनपेन से कुछ लिखकर मुझे दे दिया। वह किताब 'तूफान' थी, और उस पर मोती की तरह अक्षरों में लिखा हुआ था—"भाभी के चरणों में—निर्मला।"

पुस्तक में उसका एक चित्र भी था। मैंने चित्र देखते हुए हँसकर कहा—"आपके ज्योत्स्ना-से धुले हुए शरदाकाश की तरह निर्मल मुख को देखकर कौन कह सकेगा कि आपके हृदय में इतना बड़ा 'तूफान' भरा होगा?"

निर्मला झेंप गई। ओठों पर उपालम्भ और आँखों में लाज छलक उठी। वह क्षण मैं नहीं भूल सकता। वह हँस भी नहीं सकी और हँसी रोक भी नहीं सकी। कालिदास के शब्दों में न ययौ न तस्थौ-सी होकर रह गयी।

इतने में ही···इतने में ही बड़े ज़ोर से आवाज़ हुई, ट्रेन भयानक गति से खड़खड़ा उठी। बत्तियाँ बुझ गईं और जान पड़ा, ट्रेन को किसी विकराल शक्ति ने झकझोर कर चुरमुर करके फेंक दिया। सहस्रों कण्ठों से क्रन्दन फूट पड़ा। मालूम हुआ, लड़खड़ाती हुई उलटती-पुलटती ट्रेन किसी अँधेरी गुफा के अनन्त गर्भ में घुसती चली जा रही है। हम सभी चिल्ला उठे। इसके बाद एक ज़ोर का धड़ाका हुआ। निर्मला मेरी गोद में आ गई और मैं लुढ़कता हुआ फाटक के सामने चला आया। जान पड़ा, प्रलय आ गया। क्या हो रहा है मैं सोच नहीं सका। इतने में ही टूटे हुए तख्ते और लोहे के ढेर खड़खड़ा कर मेरे ऊपर बरस पड़े। मेरे सिर और पसलियों में ज़ोर से चोट लगी। मैं चिल्ला उठा और इसके बाद मेरी चेतना लुप्त हो गयी।

इसके बाद क्या हुआ, मैं कुछ नहीं कह सकता। जब होश आया, तब मैंने अपने को अस्पताल में पाया। भाभी रोती हुई सर में तेल लगा रही थीं, भाई साहब पट्टियाँ तर कर रहे थे और मिनी तलवे सहला रही

थीं। मेरे आसपास कुहराम मचा था। कोई कराह रहा था, कोई चिल्ला रहा था। बगल में एक आदमी की दोनों टाँगें कट गई थीं, सामने एक मरे हुए आदमी को लोग टाँगकर ले जा रहे थे और दूसरी ओर नर्स एक आदमी को दवा पिला रही थी।

मेरी स्मृति धीरे-धीरे साफ होने लगी। गाड़ी खड़खड़ा उठी। निर्मला मेरी गोद में गिर पड़ी और मैं खुद लुढ़क गया। इसके बाद··· भीषण अंधकार, धड़ाके की आवाज़, खड़खड़ाहट, भयानक क्रन्दन, कम्पार्टमेंट का चूर-चूर होना, और···और इसके बाद मेरे ऊपर तड़-तड़ाकर लकड़ियाँ और लोहे का भयानक पहाड़ टूट पड़ना······मैं पुकार उठा, 'निर्मला! निर्मला!' और इसके बाद बेहोश हो गया। मुझे चोट अधिक नहीं लगी थी, फिर भी मैं हफ्तों, महीनों बीमार रहा। पीछे सुना गया कि दो दिनों के बाद वह अनन्त ध्वंस-राशि हटाने पर मैं पाया गया था। उस कम्पार्टमेंट में और कोई नहीं बचा था। उसमें की लाशें पहियों के तले कुचलकर कर ऐसे आकार की हो गई थीं कि किसी की शिनाख्त तक न हो सकी।

मेरा बच जाना एक आश्चर्य समझा गया। बधाइयों की भरमार हो गई। भाभी ने शहर के प्रत्येक मन्दिर में पूजा कराई; घर पर कथा कहलायी और एक धार्मिक पत्र में मेरा चित्र प्रकाशित किया गया और नीचे लिखा कि "करुणामय भगवान कैसे रक्षा करते हैं, इसके ये ज्वलन्त उदाहरण हैं।"

इसके बाद एक दिन अखबारों में खबर निकली कि "साहित्यिक प्रतियोगिता में 'तूफान' सर्वसम्मति से सोनखर-नरेश पुरस्कार के योग्य समझा गया, किन्तु उसकी लेखिका कुमारी निर्मला वर्मा का स्वर्गवास बिहटा ट्रेन-दुर्घटना में हो जाने के कारण वह पुरस्कार 'ईश्वरीय न्याय' के लेखक श्री नवीनचन्द्र सिन्हा को दिया जायेगा।"

निर्मला ने जो किताब दी थी, मैंने सूटकेस में से निकाली। वह जगह-जगह से फट गयी थी, किन्तु उसने अपने हाथ से जो लिखा था

वह वैसा ही था। वह चित्र भी उसी तरह······मानो हँसना चाहता था और हँसी रोकना भी। इतने में ही भाभी उछलती हुई कमरे में आईं, बोलीं—"सुना है ?"

मैंने रोककर कहा—"भाभी, तुमने 'तूफ़ान' पढ़ा है ?"

'नहीं, लेकिन सुनो भी तो ?"

मैंने किताब उनके हाथों में देते हुए कहा—"पहले इसे पढ़ जाओ।"

भाभी ने उसे उलट-पुलट कर पूछा—"अरे···यह···यह वही तो नहीं है ?"

निर्विकार स्वर में मैंने कहा—"मालूम नहीं।"

मैं चुप रह गया; किन्तु निर्मला की पुस्तक के उपसंहार के शब्द मानो उसी के वीणा-निनादित स्वर में मेरी चेतना में दौड़ने लगे—"सौ बातों की एक बात है कि जीवन तूफ़ान है, और इसे समझ कर भी हम नहीं समझना चाहते, यही आश्चर्य है। जिधर वह तूफ़ान उड़ा ले जाय वही हमारा मार्ग है और इस सत्य पर जिसे विश्वास हो जाय वही सुखी है।"

मैं आश्न्चर्यपूर्वक सोचता हूँ कि इसमें और यक्ष ने जो सवाल किये थे, उसमें कोई सम्बंध है या नहीं ? यह उन्हीं प्रश्नों का उत्तर तो नहीं है ? यह छोटी-सी बात समझना चाहता हूँ, पर समझ में नहीं आती। मालूम नहीं, कभी समझ सकूँगा भी या नहीं।

कभी-कभी नींद में भी मैं बड़बड़ा उठता हूँ—'का वार्ता···?'

फिर भी······

जीवन में आजतक उसे केवल तीन ही बार देखा है; किन्तु हरबार नया व्यक्तित्व, नया स्वरूप, नयी आभा !

मुझे याद है कि जब मेरे विवाह की बातें चलने लगीं तब मन ही मन मैंने उसका विरोध किया था, किन्तु माँ को इच्छा के प्रतिकूल खुलकर कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। अन्त में जब तिलक का दिन निश्चित हो गया तब मैंने माँ से कहा—"माँ, मैं विवाह नहीं करूँगा।"

माँ मेरे सिर में तेल लगाकर बालों को सुलझा रही थी, हँसकर बोली—"क्यों नहीं करोगे ?"

"विवाह करना क्या सब किसी के लिए ज़रूरी है ?"

"तुम्हारे ख्याल से न हो, लेकिन मेरे ख्याल से तो है ही।"

कोई दूसरा होता तो मैं उत्तर देता कि मेरा विवाह तो मेरे ही ख्याल से होना चाहिए, लेकिन माँ से नहीं कह सका।

मैंने दूसरा प्रश्न पूछा—"तो क्या यह भी ज़रूरी है कि विवाह हो और अभी हो ?"

कंघी साफ करते हुए अत्यन्त सरल भाव से माँ ने कहा—"जब विवाह करना ही है तब अभी और तभी क्या ? जैसा आज वैसा कल।"

एक महत्त्वाकांक्षी प्रगतिशील नवयुवक के जीवन में, जब कि नवयुग की क्रान्ति ने बसंत-सी आकर नये विचारों, नयी भावनाओं में फूल उगा दिये हों, विवाह होना, न होना या विलम्ब से होना कितने महत्व की बात है, यह माँ को कैसे समझाऊँ ! विचारों में खोया-सा मैं चुप हो रहा।

माँ ने समझा उसकी उक्ति से मैं निरुत्तर हो गया। तौलिया भिगो कर मेरा मुँह पोंछा, फिर मातृत्व के उमड़ते हुए गर्व से मुझे एक बार देखकर बोली—"तुम तो बेटा, नये हो; जब चाहो शादी कर सकते हो; लेकिन मैं...मैं अगर मर जाऊँ तो फिर बहू कैसे......"

मैंने बात काटकर कहा—"माँ, किसने तुमसे कहा है कि तुम बुड्ढी हो गई हो?"

माँ हँसती हुई बोली—"मेरा क्या ठिकाना? आज हूँ कल नहीं। अब तो यही साध रह गई है कि मरने के पहले एक पोते का मुँह देख लेती।"

आकांक्षाओं का अन्त नहीं है। पहले बहू की साध थी अब पोते की हो गई।

मैंने निश्चय किया कि माँ रात को जब दूध देने के लिए आती है तभी बहुत-सी उक्तियाँ देकर उसे समझाऊँगा। किन्तु उसके पहले ही मैंने सुना चौके में माँ चाची से कह रही थी—"सुनती हो? मेरा बेटा ऐसा नहीं है कि मेरी लगी हुई साध तोड़ दे।"

चाची ने कहा—"लेकिन उसका मन खुश नहीं देख रही हूँ। अनमना-सा रहता है।"

माँ हँसने लगी—"अरे, तुम समझती नहीं, वह बनता है। भीतर से वह फूला नहीं समाता होगा।

इसके बाद बहुत चेष्टा करके भी मैं माँ से कुछ नहीं कह सका। मानता हूँ यह मेरी कमज़ोरी थी, शायद अदूरदर्शिता भी थी। किन्तु जीवन में कमजोरी का भी तो एक स्थान है? शरीर में तो आँखें भी तो होती हैं जिन्हें पलकों के सुकुमार आवरण में छिपाये रखना पड़ता है?

पर यह तो तनिक विषयान्तर-सा हो गया। अब उसकी बात कहूँ।

शादी होने का सारा रोष, सारा बुग्ज़ मैंने दूसरे मद में निकाला। मैंने तीन शर्तें लगाईं। पहली यह कि तिलक-दहेज़ बिल्कुल न लिया जाय, दूसरी यह कि शादी में जितने कपड़े खरीदे जायँ सब खादी के हों और तीसरी यह कि वेश्या का नाच न हो।

माँ ने सभी शर्तें मान लीं, लेकिन आखिरी शर्त में चाचा जी ने हस्तक्षेप किया। पुरानी रोशनी के आदमी थे। बोले—"रईस की बारात में नाच-गाना न हो, इससे बढ़कर ज़लालत और क्या हो सकती है?" चाची एक कदम और आगे बढ़ गईं। बोलीं—"वेश्या सुहाग का चिह्न है, उसे तो ले ही जाना होगा। मेरे लाख मना करने पर भी लखनऊ से दो भाँड और बनारस की एक वेश्या बुलायी ही गई।"

और तब वहीं, उसे मैंने पहली बार देखा।

वह कैशोर्य और तारुण्य के संगम पर ही खड़ी-सी थी। प्रभात हो गया था, अभी किरणें नहीं फूटी थीं। जान पड़ता था नवयौवन के आक्रमण से भागकर डरा हुआ बचपन दोनों आँखों में ही छिपकर जा बैठा था।

सावन का सजल बरसाती रंग, न बहुत गोरा न बहुत साँवला। दीप-शिखा की तरह अलस भी, चंचल भी। लता-वेलि-सी पतली छरहरी सलज्ज, सस्मित, सुकुमार, जब वह तारों से भरी हुई, चाँदनी की तरह झिलमिलाता हुआ उजला पेशवाज़ पहनकर आ खड़ी हुई तब आँखों का समुद्र-सा उसकी ओर उमड़ पड़ा। और अपनी इच्छा के विरुद्ध सिद्धान्तों के प्रतिकूल भी मैं निर्निमेष, विमुग्ध-सा उसे देखता ही रह गया।

नाच शुरू हुआ। घुँघरू बज उठे। जान पड़ा संगीत की पतली टेढ़ी लकीर पर सौन्दर्य तिलमिलाता-सा दौड़ पड़ा।

उसकी आँखों में कसक-सी छा गयी, नवयौवन की मादकता ओठों पर बरस पड़ी। कला का उन्माद उसके सुकुमार अवयवों की अँगड़ाई में

से निकलकर हवा में लहर बनकर फैल गया। ध्वनि का स्पन्दन प्रकाश में सिहरन बनकर बिखर गया।

किन्तु कला आत्मा की व्यंजना होने के बदले कहाँ तक विलास का साधन बन सकती है, यह मैंने उसी दिन समझा। उपासना का आसन कहाँ तक वासना की सेज बन सकता है। प्राणों की पिंजरबद्ध वेदना आँखों और ओठों पर लोटकर मुक्ति की करुण याचना बनने के बदले कहाँ तक की विह्वल कामुकता का ईंधन बन सकती है, इसका अनुभव मुझे उसी घड़ी हुआ।

चारों ओर आहें भरी जाने लगीं, ठंडी साँसें खींची जाने लगीं। यारों ने फ़िकरे कसने शुरू कर दिये। तोहफ़े बरसने लगे। कला का मन्दिर बाज़ारे हुस्न बन गया।

मेरी बगल में एक मित्र बैठे थे। उनकी छाती पर मानो साँप लोट गया। यदि उनकी आहों में बल होता तो मोम की पुतली की तरह वह खड़ी ही गल जाती। बुभुक्षित आँखों से उसे देखते हुए मुझसे बोले—"अमरेन्द्र, यार अब तो एक ट्रिप बनारस का लगाना ही होगा, बोलो, दोगे साथ ?"

मैं भी इसी नये ज़माने और नयी सभ्यता के वातावरण में पला हुआ एक युवक हूँ जिसमें सदाचार को ढोंग और इस तरह की बातों पर चिढ़ने को पाखण्ड कहते हैं। किसी दूसरे अवसर पर ऐसा ही प्रश्न मैं किसी दूसरे से नहीं कर बैठता, मैं इसकी क़सम नहीं खा सकता, किन्तु उस समय मुझे लगा मानो मेरा आदर्श ही कुचल-सा गया। मेरे स्वप्न-लोक की कला की देवी शामियाने में गैस के प्रकाश में खड़ी हुई वेश्या बन गई। कुछ भी उत्तर न देकर मैं चुप रहा।

इसके बाद गाने की फ़र्माइश हुई। किसी ने राग-रागिनी की फ़र्माइश की, किसी ने ठुमरी की और किसी ने ग़ज़ल की। और वह तड़पते

हुए घायल हृदयों पर सलज्ज मुस्कान का नमक छिड़कती हुई मेरे सामने ही आ बैठी। गाना शुरू हुआ—सेहरा।

उसकी आँखों में हलाहल था, ओठों पर मसीहाई थी और गले में जादू था; किंतु एक ही बात नहीं थी—स्त्रीत्व का तेज। वह अप्सरा थी, स्त्री नहीं बन सकी। शराब बनकर वह मादकता बढ़ा सकती थी, पानी बनकर प्यास नहीं बुझा सकती थी। उसमें तीखापन था, तेज नहीं था; अभिमान था, गर्व नहीं था; सफाई थी, पवित्रता नहीं थी। उसके गले का दर्द हृदय की करुण पुकार नहीं बन सका। किसी विद्वान राजा की ज़ोरदार कलम से उतरी हुई गरीबी की तस्वीर की तरह उसके संगीत में वेदना का वर्णन तो मिलता था, अनुभूति नहीं मिलती थी। मनुष्य के जिस विज्ञान और जिस कला ने लाल लोहे की तरह धधकते हुए स्त्रीत्व को बिजली का बल्व बनाकर उसका प्रकाश तो बढ़ाया, किन्तु गरमी घटा दी। मैंने सिर झुकाकर मन ही मन उसे प्रणाम किया।

दूसरे दिन जहाँ देखो उसी की बात, उसी की चर्चा। कोई उसकी आँखों पर मुग्ध था, कोई ओठों पर कुर्बान था; तो किसी को उसकी मुस्कान ने घायल किया था, तो किसी को उसकी नागिन-सी चोटियों ने ही डँस छोड़ा था। मेरे एक कलाकर मित्र ने उसे 'चकित हरिणी प्रेक्षणा' की उपाधि दे डाली। दूसरे मित्र ने अजन्ता की सारी कला उसकी आम्र-मंजरी-सी उँगलियों की अँगड़ाई पर ही वार दी।

और मैं सोच रहा था, जो सौन्दर्य पानी में तेल की तरह केवल सतह पर ही उतरा रहा है, क्या सचमुच वह इतना आकर्षक है!

×   ×   ×

सात वर्ष बीत गए। मधुपुर में सदर अस्पताल में मैं असिस्टेंट सिविल सर्जन था। अस्पताल के बगल में थोड़ी ही दूर पर बंगला था। सामने रेलवे लाइन थी और उसके उस पार खिलखिलाती हुई हरियाली का अनन्त विस्तार।

माँ अब नहीं थी। उसने बहू का मुख देख लिया; एक पोता भी खेला लिया और अपने जीवन की दो चिर-संचित साधें पूरी करके वह चली गई।

घर में कोई न था। रागिणी—मेरी स्त्री, दोनो बच्चों को लेकर अपने मौसा के घर चली गई थी। चाची देहात चली गई थीं। डेरे पर केवल नौकर रह गए थे।

जाड़े के दिन थे। रागिणी बच्चों को लेकर उसी दिन आने वाली थी। ट्रेन दोपहर को आती थी। मैंने सोचा कार लेकर स्टेशन चलूँ। लेकिन एक पोस्ट-मार्टम करना था। दो-तीन घंटे पोस्ट-मार्टम के, फिर उसकी रिपोर्ट लिखना और उसके बाद डेरे पर आकर नहाना, बहुत लंबा-सा प्रोग्राम था। आखिर मैं दस ही बजे अस्पताल चला गया और शोफर से कह दिया कि बारह बजे कार लेकर स्टेशन चले जाना।

पोस्ट-मार्टम करते और उसकी रिपोर्ट लिखते मुझे कई घंटे लग गए। तीन बजे कहीं जाकर फुर्सत मिली। अभी घर चलने के लिए मैं तैयार ही हो रहा था तब तक कार लेकर शोफर पहुँचा।

मैंने पूछा—"सब लोग आ गए ?"

"जी हाँ, आपको माँ जी ने जल्दी बुलाया है।"

"सब कुशल तो है ?"

"जी हाँ, उन्होंने कहा है बाबू को लेकर जल्दी आओ।"

"अच्छा चलो।"

जब मैं कार पर घर पहुँचा तो रागिणी भीतर ही थी। उसकी आदत थी कि मेरी कार का हार्न सुनते ही चाहे कोई भी समय और कैसा भी काम करती हो वह बरामदे में चली आती। मुझे आश्चर्य-सा हुआ।

कमरे में घुसते ही मैंने पुकारा—"रागिणी !" रागिणी नहीं आयी, दोनों बच्चे आकर लिपट गए।

मैंने पूछा—"माँ कहा है ?"

"उस अन्दर वाले कमरे में है।"

"क्या कर रही है ?"

"दूध गरम कर रही है"

तब तक रागिणी आ गई। मेरा हैट टेबुल पर रखकर जूते का फीता खोलने लगी।

मैंने कहा—"नहीं, नहीं, रहने दो।"

"क्यों ?"

"अभी तुरत नहाना है। पोस्ट-मार्टम करके चला आ रहा हूँ।"

"तो इससे क्या ? मैं भी नहा लूँगी।"

"कैसे कैसे आई ? रास्ते में कुछ तकलीफ़ तो नहीं हुई ?"

"तकलीफ़ तो नहीं हुई लेकिन...ठहरो मैं अभी आई..." रागिणी झपट कर अन्दर के कमरे में चली गई। मैं भौंचक-सा बैठा रहा।

मैंने सोचा चलकर देखूँ अन्दर क्या कर रही है, तब तक वह स्वयं चली आई। उसकी गोद में नौ-दस महीने का एक गुलाब-सा बच्चा सो रहा था।

मैंने आश्चर्य से पूछा—"किसका बच्चा उटा लाई ?"

"लंबी कहानी है, पीछे पूरी कहूँगी। तब तक एक मरीज़ भीतर पड़ा है उसे ज़रा देख लो।"

"कैसा मरीज़ ?"

"इसी बच्चे की बड़ी बहन...करीब चार-पाँच की होगी सो..."

अत्यन्त विस्मित होकर मैंने पूछा—"लेकिन ये हैं कौन ?

"कोई भी हों, हैं तो इन्सान ही...पीछे पूरा दास्तान सुन लेना। अभी चलकर देख लो।"

"लेकिन अभी तो नहाया नहीं ?"

"नहाने का पानी गरम कराती हूँ तब तक तुम आओ"—अन्दर के कमरे में जाकर मैंने देखा, बिस्तर पर एक चार-पाँच साल की बच्ची सोई थी और बगल में एक स्त्री कुर्सी पर बैठकर कुछ लिख रही थी। मुझे देखकर वह खड़ी हो गई।

मैंने बच्ची की नब्ज़ देखी, फेफड़ों की परीक्षा की, टेम्परेचर लिया और तब रागिणी ने पूछा—"क्या है ?"

एक बार उस स्त्री की ओर देखकर सहमते हुए मैंने कहा—"ब्रौंको न्यूमोनिया का केस है।"

"तो...तो किस अवस्था में है ?"

"केस सीरियस तो ज़रूर है, दोनों फेफड़े जकड़ गए हैं, टेम्परेचर भी ज़्यादा है और..."

"तो कोई ख़तरा तो नहीं है ?"—उस स्त्री ने घबड़ा कर पूछा।

ख़तरा तो था ही, लेकिन मैं उससे क्या कहता ? मैंने थोड़े में ही कहा—"देखिए...अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। कुछ दवा पड़ी है ?"

रागिणी ने कहा—"आलमारी में से ऐंटीफ्लोजिस्टाइन निकालकर जब तक उसी की एक पट्टी मैंने दे दी है।"

"अच्छा किया। मैं एक मिक्सचर लिख देता हूँ। तुम शोफर को भेजकर उसे अपस्ताल से मँगा लो। तब तक मैं नहा लूँ।"

मिक्सचर लिखकर उड़ती हुई दृष्टि से उस स्त्री को एक बार देखकर मैं बाहर के कमरे में चला गया।

शाम को चिराग़ जल जाने पर जब चाय लेकर रागिणी आई तब मैंने कहा—"अब अपनी कहानी सुनाओ।"

"पहले तुम बताओ उसकी हालत कैसी है ?"

"हालत अच्छी तो नहीं हैं, फिर भी शायद बच जाय ।"

रागिणी के मुँह पर विषाद की गहरी छाया फैल गई। कुछ रुककर उसने कहा—"लेकिन···लेकिन तुम कोशिश करोगे तो वह बच जायेगी ।"

"मैं ईश्वर थोड़े ही हूँ ।"

"किन्तु तुम्हारे ही भरोसे तो मैं उसे ले आई हूँ। इसकी लाज तुम्हारे ही हाथ है"—मेरा हाथ अपने हाथों में लेकर उसने कहा।

"लेकिन यह है कौन······?"

"यह तो मैं भी नहीं जानती।"

"तो···यहाँ इसे लाई कैसे ?"

रागिणी कुछ कहने जा रही थी, तब तक कमरे में से आवाज आयी। बच्ची रो रही थी। रागिणी झपट कर चली गई।

वह तुरत लौट कर आई; बोली—"बच्ची रो रही है, जरा चलकर देख लो।"

मैंने जाकर देखा—वह जगकर बेचैनी से तड़फड़ा रही थी। कफ़ सूख गया था। खाँसी जोरों से थी। ज्वर का वेग बढ़ गया था। रो भी नहीं सकती थी, केवल हाँफ रही थी।

रागिणी ने पूछा—"कैसा पा रहे हो ?"

"जैसी थी वैसी ही है। इसकी उम्र कितनी है ?"

"चार वर्ष दो महीने।" उसकी माँ ने कहा।

"और भी पहले इसे कभी न्युमोनिया हुआ था ?"

"कभी नहीं।"

"तो इसके बाप को अभी खबर दी गई है या नहीं ?"

बाप का नाम सुनकर वह सहम-सी गई। रागिणी भी मानो चौंक पड़ी। उसने रागिणी को देखकर सिर झुका लिया। रागिणी ने जल्दी से उत्तर दिया—"अभी नहीं।"

और तभी वह सात साल की पुरानी स्मृति बिजली की तरह कौंध गई। जान पड़ा, किसी पुराने गीत का भूला हुआ राग जग पड़ा हो। यह तो वही है!

मैंने और कुछ नहीं पूछा—बच्ची को अच्छी तरह एक बार फिर देखकर दवा पिलाकर बाहर चला आया।

थोड़ी देर बाद रागिणी उसके छोटे बच्चे को गोद में लिये हुए आई। मैंने पूछा—"वह कैसी है?"

"सो गई है।"

"अच्छा, अब कहो कैसे इनसे मुलाकात हुई?"

रागिणी ने पास बैठते हुए कहा—"ट्रेन में मर्दाने कम्पार्टमेंट में बहुत भीड़ होने के कारण मैं जनाने में ही बैठ गई। उसी में यह भी बैठी थी। साथ में और कोई नहीं था, सिर्फ एक बूढ़ा आदमी था जो स्टेशन पर आकर देख-सुन जाता था। वह बच्ची बड़ी तकलीफ में थी और फिर गोद में यह छोटा बच्चा। बिचारी अत्यधिक परेशानी में थी। मुझे बड़ी दया आई। मैंने पूछा—कहाँ जा रही हैं आप?"

उसने कहा—"बनारस।"

"और आ कहाँ से रही हैं?"

"कलकत्ते से।"

"तो साथ में और कोई भी है?"

"कोई नहीं, सिर्फ एक बूढ़ा नौकर है, वही जो हर स्टेशन पर आकर देख जाता है।"

"बनारस तो अभी बहुत दूर है और बच्ची की तबियत ज़्यादा खराब मालूम होती है।"

और तब वह रो पड़ी। बोली—"बहन, ऐसी बिपत में मैं कभी नहीं पड़ी थी।"

मैंने इस बच्चे को गोद में ले लिया और पूछा—"ऐसी हालत में आप कलकत्ते से चली ही क्यों ?"

उसने कहा—"चलते समय तबियत ज़्यादा खराब नहीं थी। मैंने समझा साधारण बुखार है, बनारस पहुँचकरठीक हो जायेगा। लेकिन रास्ते में ही इतनी तबियत खराब हो गई है।"

मुझे दया आई। एक बच्ची की तबियत इतनी सख्त खराब, दूसरा नन्हा बच्चा गोद में···और बिचारी खुद···गर्भवती···

मैंने रोक कर पूछा—"वह गर्भवती है ?"

रागिणी ने बड़े आश्चर्य से मुझे देखकर पूछा—"डाक्टरी क्या खाक करते हो ? इतना भी नहीं पहचान सकते ? छह सात महीने का गर्भ है और···"

मैंने कहा—"हो सकता है। मैं तो बच्चे को देखने गया था, उसे देखने थोड़े ही गया था। खैर, तुम अपनी बात कहो।"

मन ही मन अत्यन्त सन्तुष्ट होकर वह कहने लगी—"तो ऐसी हालत देखकर मुझे बड़ी तरस आयी। साथ में कोई था भी नहीं, सिर्फ एक बूढ़ा नौकर। मधुपुर एक स्टेशन और था।"

मैंने कहा—"बहन, मेरा स्टेशन तो आ रहा है और तुम्हें ऐसी हालत में छोड़कर जाते भी नहीं बनता। कहो मैं क्या करूँ ?"

उसकी आँखों में आँसू भर आये; बोली—"मैं क्या कहूँ, मेरी तो अक्ल ही काम नहीं करती।"

इतने में ही मुझे यह बात सूझ गई। मैंने कहा—"अगर तुम मानो तो एक बात कहूँ।"

उसने पूछा—"क्या ?"

मैंने कहा—"मेरे पति मधुपुर अस्पताल में असिस्टेंट सिविल सर्जन हैं। तुम मधुपुर अगर उतर जाओ तो उनसे बहुत मदद मिल सकतीहै।"

"लेकिन इस छोटे बच्चे को लेकर मैं अस्पताल रह कैसे सकूँगी और सामान भी मेरे साथ पूरा नहीं है"—उसने कहा।

मैंने कहा—"अस्पताल में रहने की ज़रूरत ही क्या है? तुम मेरे घर रहना।"

तब वह बहुत संकोच करने लगी; बोली—"शायद तुम्हारे घर के लोग नाराज़ हों।"

मैंने कहा—"मेरे घर में कोई दूसरा है ही नहीं, सिर्फ मैं हूँ और मेरे पति हैं।"

"और तुम्हारे पति ही अगर बिगड़ने लगे कि यह कौन-सी बला तुम टाँग लाई तो...?"

मैंने कहा—"मेरे पति ऐसे नहीं हैं, और मान लो अगर वे बिगड़ेंगे तो मैं मना लूँगी, तुम मधुपुर उतर जाओ और..."

मैं पुलकित हो उठा। रागिणी को बाँहों में जकड़ते हुए मैंने कहा—"तो क्या यह जरूरी है कि मैं अगर बिगड़ूँ तो तुम मुझे मना ही लोगी?"

इसका कुछ उत्तर न देकर उसने केवल मूक अन्तर्भेदिनी दृष्टि से मुझे देखा और अपने को बाँहों में से छुड़ाती हुई बोली—"वह अंत तक बहुत हिचकिचाती रही। लेकिन जब बच्ची की तबियत खराब ही होती चली गई, तब आखिर राज़ी हो गई। मैं तो समझती थी कि स्टेशन पर तुम खुद ही कार लेकर आये होगे, किन्तु उतरने पर शोफ़र को देखा। उससे पूछा तो मालूम हुआ कि तुम अस्पताल गये हो। फिर यहाँ आकर मैंने तुम्हें ख़बर भिजवायी और तब..."

मैंने रोक कर पूछा—"खैर, यह सब तो हुआ। तुमने यह भी पूछा कि वह कौन है और उसके घर में और कौन-कौन हैं?"

मुझे जान पड़ा, रागिणी की छाती धड़क-सी उठी। सहमकर अपराधिनी की तरह उसने कहा—"हाँ...पूछा तो..."

"तो उसने क्या बतलाया ?"

"उसके घर में कोई वैसा आदमी नहीं।"

"कैसा आदमी ?"

"वह···वह वेश्या है।"

रागिणी ने समझा, मुझे सुनकर बहुत आश्चर्य होगा। वह डर ही रही थी कि शायद मैं बिगड़ूँ भी; किन्तु मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया। उस बच्चे को गोद में लेकर खेलाने लगा।

मेरी जाँघ पर पर सिर रखकर रागिणी ने कहा—"इस अपराध के लिए जो भी दण्ड दोगे, मैं खुशी से सह लूँगी।"

मैंने उसके रेशमी बालों का एक गुच्छा अपनी उँगली में लपेटते हुए कहा—"दण्ड कैसा ? तुमने तो पुरस्कार पाने का कार्य किया है।"

मूक दृष्टि से वह मेरी ओर देखने लगी। बच्चे को खेलाते हुए मैंने कहा—"और इसके दो कारण हैं।"

"क्या ?"

"एक तो यह कि जो तुमने किया वह तुम्हारा कर्तव्य था। नहीं करने से ही तुम अपराधिनी होती···और दूसरा यह कि···"

"दूसरा क्या ?"

उसकी ओर देखकर बच्चे को चूमते हुए मैंने हँसकर कहा—"दूसरा यह कि वह मेरी परिचित है।"

जान पड़ा रागिणी को साँप ने डँस लिया, बोली—"मज़ाक कर रहे हो।"

"नहीं, बिल्कुल सच !"

"मेरी कसम ?"

"मैं कसम तो खाता ही नहीं।"

"तो मुझे चिढ़ाने के लिए कहते हो।"

मैंने पूछा—"तुम उसका नाम जानती हो ?"

"नहीं ।"

"तो कहो तो मैं उसका नाम बता दूँ ।"

"बताओ ।"

"उसका नाम है 'ज्योत्स्ना' । तुम चाहे जाकर पूछ लो ।"

और तब मुझे आलोचनात्मक दृष्टि से एक बार देखकर बच्चे को लेकर रागिणी चली गई ।

थोड़ी देर बाद वह लौटकर आई और हँसती हुई बोली—"लेकिन तुम हो बड़े झूठे ।"

क्या उसका नाम ज्योत्स्ना नहीं है ?—"मैंने पूछा ।"

"नहीं, वह तो ठीक है । लेकिन तुम जो कहते हो कि मैं तो बच्ची को देखने गया था, उसे देखने थोड़े ही गया था—सो तो झूठा ही कह रहे थे ? अगर उसे देखा ही नहीं तो फिर पहचाना कैसे ?"

मैंने कहा—"इसमें झूठ क्या है ? मैंने उसे देखा तो ज़रूर, लेकिन उसे एक्जामिन थोड़े ही···"

वह बात काटकर बोली—"हाँ, हाँ, एक्जामिन तो नहीं किया, लेकिन ज़रा-सी झलक में सात साल पुराना प्रेम उमड़ पड़ा । यही क्या···"

मैंने रोककर पूछा—"सात साल की बात है यह तुमने कैसे जाना ?

"तुम अपने को दुनिया ऊपर चतुर समझते हो । वह भी तुम्हें पहचान गई ।"

मैंने आश्चर्य से पूछा—"सच ?"

"और नहीं तो क्या ? जैसे वह तुम्हारी पहली है, वैसे ही तुम भी तो उसके पहले हो ।"

"इसके मानी ?"

"पहली महफ़िल उसने तुम्हारी ही की थी। तभी तो तुम्हारी तस्वीर उसके हृदय में ऐसी नक़्श हो गयी है कि एक ही झलक में पहचान गई।"

मैंने पूछा—"लेकिन वह तो यह नहीं जानती है कि मैं भी उसे पहचान गया हूँ।"

"जानती नहीं थी, लेकिन मैंने बता दिया।"

यह तो तुमने बड़ी शरारत की।—"मैंने रोष से कहा।"

वह बोली—"मुझे धन्यवाद नहीं देते, उल्टे शरारती बना रहे हो! मैंने कितना बड़ा काम किया तुम्हारा?"

"काम क्या किया?"

वह तो अपने हृदय से पूछो। कहकर हँसती हुई वह चली गई।

रात को रागिणी ने अपने सोने का प्रबन्ध उसी कमरे में किया। बच्चे मेरे साथ सोये।

मैं दिन भर का जो थका था, सो जल्दी ही नींद लग गई। करीब बारह बजे रात को रागिणी ने आकर मुझे जगाया; बोली—"ज़रा चलकर उसे देख लो।"

क्यों, कैसी है?—"मैंने अचकचाकर पूछा।"

"वैसी ही है, लेकिन बेचैनी कुछ ज्यादा हो गई है।"

मैंने आकर देखा, बच्ची को गोद में लिये वह पलँग पर बैठी थी। मुझे देखकर उसने सिर का आँचल ठीक किया और नीचे उतरने लगी।

मैंने कहा—"नहीं, नहीं, बैठी रहिए, मैं देख लूँगा।",

मैंने देखा बच्ची को डिलीरियम हो गया था। ज्वर का वेग बढ़ गया था। कफ़ भी जकड़ा हुआ था। जोरों से वह हाँफ रही थी।

मैंने पूछा—"दवा कै खुराक दी है?"

"चार खुराक"—धीमे स्वर में उसने कहा।

"और पट्टी ?"

"वह भी लगायी गई है।"

मैंने कुछ रुककर कहा—"Complications कुछ बढ़ रहे हैं। मैं सिविल सर्जन को बुलाना चाहता हूँ।"

"अभी ?"—रागिणी ने पूछा।

"हाँ, अभी। मैं कार पर जाकर खुद लाऊँगा।"

"तो कोई खतरा तो नहीं है ?" उसने फिर वही प्रश्न पूछा जो दिन में एक बार पहले पूछ चुकी थी।

उसकी आँखों में उसके हृदय की धड़कन उभर आई थी, स्वर में कम्पन भर गया था।

"जो माँ का हृदय देखकर भी नहीं समझता और समझकर भी नहीं समझना चाहता, उसे मैं क्या समझाऊँ और कैसे समझाऊँ !"

मैंने कहा—"आप घबड़ाइए नहीं, मुझके जहाँ तक होगा, मैं उठा नहीं रखूँगा। बाकी फल तो ईश्वर के हाथ है।"

मेरी उसकी आँखें चार हो गईं। जो उपमा सात वर्ष पहले मुझे नहीं जँची थी, वह अब जँच गई—'चकित हरिणी प्रेक्षण।

रागिणी ने कहा—"शोफ़र को ही सिविल सर्जन के यहाँ न हो तो भेज दो।"

नहीं, मुझे ही जाना होगा।—कहकर मैं बाहर चला आया।

सिविल सर्जन को लेकर मैं आधे घंटे के भीतर ही लौटा। उन्होने उसकी सारी हालत देखी। फिर पूछा—"दवा क्या दी ? मैंने दवा बतला दी।"

उन्होंने कहा—"दवा तो यही मैं भी देता। खैर, लाइये एक चीज़ और जोड़ दूँ।"

मैंने शोफ़र को वह दवा अस्पताल से ले आने के लिए भेज दिया।

उन्होंने उसे एक बार फिर देखकर मुझसे पूछा—"यह लड़की आप की कौन है ?"

मेरे मुँह से निकल पड़ा—"मेरी बहिन की लड़की" और मैं संकुचित-सा हो गया।

रागिणी ने मुझे आश्चर्य से देखा। वह भी मानो चिहुँक-सी पड़ी।

सिविल सर्जन ने पूछा—"इसके पिता हैं ?"

"जी हाँ।"

"उन्हें खबर दे दी है ?"

"जी हाँ।"

"ठीक किया।"

शोफ़र दवा लेकर आया। अपने हाथ से सिविल सर्जन ने दवा पिलायी। दवा आधी से ज़्यादा हलक़ के बाहर गिर पड़ी।

बाहर आने पर मैंने उनसे पूछा—"आप कैसा देख रहे हैं ?"

कुछ सहमते हुए उन्होंने कहा—"मुझे तो उम्मीद नहीं है, ऐसे ईश्वर की इच्छा और आप तो देख ही रहे हैं कि......"

तब तक रागिणी आ गई। उसने भी वही पूछा—"कैसी हालत देख रहे हैं ?"

सिविल सर्जन ने भी वही कहा जो ख्याल मेरा था। अगर रात भर बच गई तब डर नहीं रहेगा।

उसके बाद रात भर हम लोग जगे ही रहे। हालत उत्तरोत्तर खराब ही होती गई। मैंने और भी दवाएँ दीं, इन्जेक्शन भी दिया, फिर भी कोई लाभ नहीं।

और पाँच बजे सुबह को उसने दम तोड़ दिया।

रागिणी रो पड़ी। मेरी आँखें भी गीली हो गईं। किन्तु उसकी आँखों में आँसू नहीं थे। केवल उसे गोद में लिए जैसे पहले बैठी थी वैसे ही बैठी रह गई।

न उसकी आँखों में आँसू थे, न चेहरे पर कोई भाव। दृष्टि शून्य-सी हो गई थी। जान पड़ता था कोई अनुभूति, कोई चेतना रह ही नहीं गई है।

उसके बूढ़े नौकर को बुलाया गया। वह ज़ोर से रो पड़ा। फिर भी वह पाषाण-प्रतिमा-सी बैठी रही। मानो कुछ समझती ही नहीं।

अन्त में जब लाश को हटाना हुआ तब मानो उसे होश आया। वह उससे चिपट गई। किसी तरह छोड़ने को राज़ी ही नहीं होती थी। और जब आख़िर ज़बरदस्ती लाश उठा ली गई, तब एक बार ज़ोर से चिल्लायी और चिल्लाकर बेहोश हो गई।

इसके बाद पन्द्रह दिनों तक वह बीमार रही। एक तो ऐसा सदमा, दूसरे गर्भावस्था। जान पड़ा उन्मादिनी हो गई है। रागिणी ने जी-जान से उसकी सुश्रूषा की, इतनी जितनी सगी बहन भी नहीं कर सकती।

तब तक बनारस से उसका भाई भी आ गया। ठीक होने पर उसने कहा—"अब मैं घर जाऊँगी। बहुत कहने पर किसी तरह रागिणी राज़ी हुई।"

आख़िरी दिन रागिणी ने कहा—"बहन, यह कलंक तो विधाता ने मेरे ही सिर लगाया। अगर मैं तुम्हें जबरदस्ती नहीं उतार लेती तो शायद ऐसा न होता......"

उसकी आँखों में आँसू भर आये। रोककर उसने कहा—"ईश्वर की गति कौन रोक सकता है, लेकिन बहन, तुमने जो मेरे लिए किया, वह क्या दुनिया में कहीं मिलने की चीज़ है? मैं पापिनी क्या तुम्हें आशीर्वाद दूँ, लेकिन फिर भी......"

उसका कंठ भर आया। रागिणी ने दूसरी ओर बात बदल दी।

चलते समय जब रागिणी उसे कपड़े देने लगी, तब उसने बहुत इनकार किया। लेकिन रागिणी नहीं मानी; बोली—"वाह, तुम मेरी छोटी ननद हो, लोगी कैसे नहीं? अंत में उसे लेना ही पड़ा।"

रागिणी उसे स्टेशन तक पहुँचाने गई। चलते समय उसने कहा—"बहन, जीवन में फिर मुलाकात होगी या नहीं कौन जाने? लेकिन पापिन समझकर मुझे भूल न जाना।"

दोनों की आँखें भर आईं। ट्रेन चल पड़ी। घर पर मुझे चुपचाप देखकर रागिणी ने पूछा—"क्या सोच रहे हो?"

मैंने कहा—"सात वर्ष पहिले जवानी के बसंत में जिसे देखकर मैंने घृणा से मुँह फेर लिया था। आज पतझड़ के समय उसी को देखकर श्रद्धा उमड़ आई, कैसी आश्चर्य की बात है?"

"लेकिन वह जो पहले थी वही अब भी है?"

'हाँ, लेकिन उस दिन उसका असफल स्त्रीत्व देखा था, इसी से घृणा हो आई थी और आज उसका सफल मातृत्व देखा है इसी से श्रद्धा से सिर झुक गया।"

× × ×

कुछ दिन बाद मेरी बदली मधुपुर से देवघर हो गई। मुजफ्फर पुर में मेरे एक फुफेरे भाई वकील थे। हाल में ही रायबहादुर की उपाधि मिली थी। मुजफ्फरपुर डिवीजन का कमिश्नर बदलकर पटने जा रहा था। उसी की फेयरवेल पार्टी थी। मुझे भी निमंत्रण था।

पहले तो मैंने इनकार कर दिया। अस्पताल का सारा उत्तरदायित्व, अपनी प्रैक्टिस और दूसरी बात ऐसे जलसों से मुझे घृणा-सी थी। इसके अलावा दो ही महीने में रागिणी फिर मा होने जा रही थी। उसकी देख-रेख भी करनी थी। लेकिन भाई साहब नहीं माने। अंत में उनकी बात रखने के लिए और रागिणी के दबाव डालने से मझे जाना ही पड़ा।

यहाँ बड़ी-बड़ी तैयारियाँ थीं। बम्बई से एक फ्रेंच जादूगर बुलाया गया था और उत्तर तथा दक्षिण भारत के संगीत और नृत्य के प्रदर्शन का भी प्रबन्ध था।

जलसा शुरू हुआ। सभी सजधज कर बैठे थे, जान पड़ता था जापानी गुड़ियों की महफ़िल हो। पहिले जादूगर साहब ने अपने करिश्मे दिखाये। इसके बाद संगीत की बारी आयी। अंत में नृत्य का समाँ चला।

पहले दक्षिण का कथकली नृत्य हुआ, इसके बाद बंगाल के टैगोर स्कूल ऑफ़ आर्ट्स का ताण्डव-नृत्य। अंत में मध्य भारत के प्राचीन कत्थक नृत्य की बारी आयी।

जाड़े में अद्धी का कुर्ता और पल्लेदार टोपी पहिने, आँखों में सुरमा और बालों में खिजाब लगाये मुजफ्फरपुर में लखनऊ का समाँ बाँधते हुए बूढ़े उस्ताद जी ने लोच से फर्माया—ततत्त थेइ थेइ धिकिट-धिधिकिट किताङ् किताङ् धा नकिट तक थुन्ना धा छम् छननन्न झम् झनन धाध् तक धाध् धा धुमकिट तक धुमकिट धा धुमकिट तक धुमकिट धित्ता धङ्...और धङ् कहते ही सामने का मखमली परदा हटा और घुँघरूओं की झनकार पर चढ़कर मानो बिजली आकर एकाएक चमक गई!

एलेक्ट्रिक का प्रकाश उसके वस्त्रों के स्वर्ण-जाल से टकराकर मानो चूर-चूर होकर बिखर गया। घुँघरूओं से ताल माघ के ओलों की तरह तड़तड़ाकर बरस पड़ा। सारंगियों का निराकार वेदना-संगीत उसकी उँगलियों पर चढ़कर मानो साकार बन गया और तब आँखें मलकर मैंने आश्चर्य से देखा...अरे...यह तो वही है।

वहाँ बैठे सभी लोग मंत्रमुग्ध-से हो गये। जान पड़ा जमाना चार सौ वर्ष पीछे हट गया। मुगल दरबार का मुश्के अम्बर और रुहे हिना से

लदा हुआ वातावरण फिर से लौट-सा आया। वर्तमान पर अतीत की छाया पड़ गई।

और इतने में ही उसकी नज़र एकाएक मेरे ऊपर पड़ी। मैंने जल्दी से मुँह फेर लिया, किन्तु फिर भी उसने मुझे देख ही लिया।

वह मुझे देखकर एकबार चिहुँक उठी और फिर संगीत का अंतिम उच्छ्वास फैलाकर और उसे फैला हुआ ही छोड़कर बिजली की तरह चली गई।

'वंस मोर' 'वंस मोर' की आवाज़ हुई, करतल-ध्वनि हुई। किन्तु वह लौटकर नहीं आई। कमिश्नर साहब की स्त्री ने उसे फिर बुलाने का आग्रह किया। मेरे भाई साहब दौड़े हुए परदे के अन्दर गये, किन्तु वह नहीं आई, नहीं आई। आखिर बहाना करना पड़ा कि उसके पैर में मोच आ गई है।

उसी रात को मुझे देवघर लौटना था। मैं कपड़े ठीक कर रहा था। तब तक बूढ़े उस्ताद जी ने कमरे में प्रवेश करके बड़े अदब से मुझे सलाम किया; बोला—"बाई ने आपको बुलाया है।"

"मुझे? किसलिये?"

"मालूम नहीं। फिर भी कहा है कि जाने से पहले मुलाकात ज़रूर कर लेंगे।"

मुझे विरक्ति-सी हो आई थी। वेश्या चाहे कुछ भी हो, फिर भी वेश्या ही है। और फिर भी दूसरा डर भी था। कहीं कोई देख ले तो झूठ-मूठ की बदनामी हाथ आवे।

जी में आया सीधे इनकार कर दूँ। फिर कुतूहल हो आया। पूछा—"कहाँ ठहरी हैं?"

"हुजूर उसी कोने वाले गार्डन-हाउस में। इस वक्त उधर बिल्कुल सन्नाटा है।"

मैंने कुछ सोचकर कहा—"अच्छा, चलिए मैं आता हूँ। बुड्ढा सलाम करके चला गया।"

कुहासा पड़ रहा था। ओवर कोट पहनकर मैं उधर चला। दरवाजा भिड़ाया हुआ था। भीतर रोशनी हो रही थी। मैंने धीरे से दरवाजा खोला और अन्दर दाखिल हुआ। वह स्टोव पर दूध गरम कर रही थी। मुझे देखकर सर का आँचल ठीक करके खड़ी हो गई और प्रणाम करके बिछावन बिछा दिया।

उसके शरीर पर एक सफेद साड़ी थी और हाथों में काँच की दो चूड़ियाँ, बस।

मैं कुछ बोल नहीं सका और तब उसी ने पूछा—"भाभी अच्छी तरह तो हैं?"

"हाँ।"

"और बच्चे?"

"सभी।"

"भाभी का एक खत आया था। उसमें उन्होंने लिखा था कि यह उनका सातवाँ महीना है। तो...तो...क्या मुझे बुलाने का इरादा नहीं है?"

"जब चाहो, तब चलो।"

"लेकिन बिना बुलाये कैसे जाऊँ?"

"उनकी ओर से मैं तुम्हें कहता हूँ, जब चाहो चलो।"

"यह तो ज़बरदस्ती का निमंत्रण हुआ।" कहती हुई हँसकर एक फूल-सा बच्चा उसने मेरी गोदी में रख दिया।

मैंने दोनों बच्चों को पाँच-पाँच रुपये दिये। नहीं मन रहने पर भी मुझे दो कप चाय पिलाकर ही छोड़ा। अन्त में मैं चलने के लिए उठ खड़ा हुआ।

उसने मेरे पैर छुए और फिर पूछा—"भैया ! मुझे बुलाना ज़रूर, भूलोगे तो नहीं ?"

"नहीं, भूलूँगा कैसे ? और फिर रागिणी तुम्हें कैसे भूल सकेगी ?"

उसकी आँखो में आँसू भर आये। ओठ हिल उठे। केवल इतना ही कह सकी—"भैया ! मैं कलंकिनी हूँ। फिर भी···फिर भी स्त्री हूँ। और···और···और इसके बाद गला भर आया।"

मैं उत्तर नहीं दे सका। उसे एक बार देखकर सर घुमा लिया और फिर बाहर चला आया।

बाहर आकर मैंने घूमकर देखा, वह दरवाजे पर हाथ रखे, गोद में बच्चे को लिए हुए पाषाण-प्रतिमा की तरह खड़ी थी। इसके बाद कुहासे के आवरण में वह धवल मूर्ति ढक गई।

और तब काले अन्तरिक्ष में हवा की सनसनाहट पर चढ़कर एक मूक वेदना घुमड़ती-सी फिर रही थी। फिर भी······फिर भी······ फिर भी······

———

तकली

तकली नाच रही थी और नाचते-नाचते अपनी निर्बाध निःस्पन्द गति के उच्छ्वसित संगीत में वह न जाने कब कैसे खो गई।

और तब तन्द्रिल-सी दिशाओं के अनन्त प्रसार में अपना उद्भ्रान्त गति-पथ बिछाती एकाएक जब वह किसी अनजान अनुभूति के मृदु शीतल स्पर्श से जग उठी, तो देखा युगों से बहती हुई वह एक ऐसे क्षण के कूल पर आ लगी है जिसे वह पहचान भी नहीं पाती।

उस क्षण में प्रभात की स्फूर्ति थी, गोधूलि की दार्शनिकता और निशीथ की कल्पनाशीलता। उसमें बसंत की बौरी हुई मंजरियों का उमड़ता हुआ आशावाद था, पावस के घुमड़ते हुए बादलों की सजल सकरुणता और शरद् के तपस्वी आकाश की स्वच्छ निर्मुक्तता। वह क्षण सस्मित भी था, साश्रु भी और स्वप्निल भी। और तकली स्मृतियों और कल्पनाओं को खोद-खोदकर हार गई, पर उसे पहचान न पायी।

इतने में ही कोई खिलखिलाकर हँस पड़ा। तकली ने देखा, रूई की एक छोटी-सी पूनी उसे देखकर हँस रही है।

"रुक क्यों गई, बहन?" पूनी ने पूछा।

"मैं सोच रही हूँ कि···"

"कि मैं कहाँ हूँ—क्यों?"

"हाँ···नहीं।"

"तब?"

"मैं किस युग में हूँ?"

"समय भी तो आकाश का ही एक प्रसार है। तुम किस युग में हो, इसका भी अर्थ तो यही है कि तुम कहाँ हो।"

"हो सकता है।"

"तो क्या तुम सो गई थी—?"

"कह नहीं सकती; किन्तु अगर जगी ही रही होती तो फिर यह प्रश्न उठता ही क्यों ?"

पूनी ने मुस्कराकर कहा—"तुम कहाँ हो, यह जानने के लिए तुम कहाँ थी, यह जानना भी तो आवश्यक है ?"

तकली कुछ सोचकर बोली—"मेरा निर्माण करके किसी ने मुझे नचा दिया और उसके बाद···उसके बाद···।"

"उसके बाद कितने युग बीते, चन्द्रमा ने पृथ्वी, पृथ्वी ने सूर्य और सूर्य ने किसी दूसरे सौर-मण्डल की कितनी ही प्रदक्षिणाएँ कीं, मालूम नहीं। काल के जिस बिंदु पर तुम्हारा निर्माण हुआ था, वहाँ से वह बिंदु जहाँ तुम खड़ी हो कितनी दूर है—"क्या यही तुम्हारा प्रश्न है ?"

तकली ने सिर हिलाया।

"किन्तु इसके साथ ही एक प्रश्न और भी है। इतने काल तक जो प्रश्न पत्थर की अहिल्या की तरह सोया रहा, वह आज किसी विशेष क्षण के स्पर्श से जग उठा। वह क्षण क्या है, कैसा है, कौन-सा है, बता सकती हो ?"

पर तकली क्या बताती।

पूनी बोली—"तुम नहीं बता सकती। पर इस असमर्थता का भी एक कारण है और वह है तुम्हारी समस्त समर्थता का एकान्त केन्द्रीकरण। तुम्हारे निर्माता ने तुम्हें जो कर्तृत्व प्रदान किया, उसे अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए ही शायद उसे पहचान सकने की तुम्हारी शक्ति को उसने कुंठित कर दिया। तुम्हें महान बनाकर उसने अपनी ही महत्ता की मादकता से बचाये रखने के लिए तुम्हें तंद्रा में डुबो दिया। उसने तुम्हें सौन्दर्य दिया, दर्पण नहीं दिया, शक्ति दी, अनुभूति नहीं दी,

तुम्हारे कर्तृत्व को जगाकर उसने तुम्हारे व्यक्तित्व को सुला दिया और संभवतः यही कारण है कि आज तक तुमने जो किया है, वह कर सकी हो।"

कुछ भी न समझ सकने के कारण तकली मौन विस्मित-सी उसे देखती रह गई।

कुछ रुककर पूनी फिर कहने लगी—"जिस क्षण में तुम खड़ी हो उसे ठीक-ठीक पहचान सकने के लिए तुम्हें अपने उस क्षण का स्मरण करना होगा जिसमें तुमने पहले-पहल नाचते हुए अपने आपको खो दिया था। तब से लेकर अब तक का दीर्घ काल मानवता के एक मंज़िल से दूसरे मंज़िल तक पहुँचने की एक विस्तृत कहानी है। यदि तुम यह जान जाओ कि तुम्हारी ही पीठ पर चढ़कर मानवता ने इतनी लम्बी सफ़र तै की है, तो उस कहानी में तुम्हारी उत्सुकता और भी बढ़ जायेगी।"

"किन्तु" तकली ने रोककर पूछा—"मुझसे और मानवता से सम्बंध?"

"वही जो रथ के पहिये का रथ से होता है। तुम्हारी गति ही उसकी प्रगति बन गई। बीच-बीच में और भी छोटे-बड़े पहिये उस रथ में लगा किये हैं, किन्तु आदि से अन्त तक सर्वप्रमुख तुम्हीं रही हो। तुम्हारी ही···किन्तु नहीं, अभी तुम उसे समझा नहीं सकोगी। क्या प्रारम्भ से ही वह कहानी कहूँ?"

"कहो।"

तनिक ठहरकर फिर पूनी कहने लगी—"आज से न जाने कितने युग पहिले एक दिन प्रभात के झुटपुटे में मानव ने एक नयी सिहरन का अनुभव किया था। वह प्रातः समीरण का शीतल स्पर्श नहीं था और न था उषा की उँगलियों से छू जाने के कारण प्राणों में

नवचेतना का कम्पन। किन्तु वह एक ऐसी अनुभूति थी जो अशरीरी होकर भी शरीरी के शरीर पर निखिल विश्व का राशि-राशि उपहास बनकर बरस पड़ी। लज्जा से लाल हुई किरणों में स्वयं लज्जा से लाल होकर मानव ने देखा—वह नग्न है।

"उसी दिन मानव ने मानो मानवता पायी। उसी दिन उसकी अपूर्णता के राह पड़ी, उसकी कोई असुन्दरता कहीं छिप जाने के लिए सिम्टकर रोमांचित हो उठी, उसकी आलोचना-शक्ति ने उसके आत्म-तोष को झकझोर दिया। उसी दिन पहले-पहल विश्व में किसी ने कोई ऐसा काम किया जो आवश्यकता की परिधि से बाहर और प्रकृति के फैलाव के आगे था। मानव अपने आहार की चिंता बिसार कर अपनी रक्षा का प्रबन्ध छोड़कर, सारा दिन एक पेड़ की छाल काटने में बिता डाला।"

"उसी दिन तुम्हारे जीवन का मानो सूत्रपात हुआ।"

"मुझे याद है, जिस दिन मैंने पहले-पहल तुम्हें देखा था, उस दिन दिन मैं हँसते-हँसते लोट गई थी।"

मैंने पूछा—"बहन, तुम्हारा नाम क्या है?"

तुमने कहा था—"तकली।"

"और करती क्या हो?"

"नाचती हूँ।"

मैंने कहा—"ज़रा नाचो तो।"

"और तुम सिर नीचे और पैर ऊपर करके जब नाचने लगी, तब मैं हँसते-हँसते मर-सी गई।"

यहाँ तकली ने विरोध किया—"लेकिन मैं तो तुम्हारे कहने पर ही नाची थी। जानती हो, तुम्हारे हँसने से मुझे कितना दुःख हुआ था?"

"दुःख तो पीछे मुझे भी हुआ था। फिर भी उस समय तो हँसी आयी ही थी।"

"हाँ, तो फिर उसके बाद तुम पर क्रोध करने की बारी आयी। पहले दिन जब तुमने मेरी एक उँगली पकड़कर नाचना शुरू किया, तब मैं तो स्तम्भित-सी हो गई। फिर तुम्हें कितना रोका, कितनी गिड़गिड़ाई; पर तुम मानी नहीं, नाचती ही गई और···"

तकली ने फिर विरोध किया—"तो क्या मैं अपनी खुशी से नाच रही थी ?"

"नहीं सही, लेकिन मै तो नहीं जानती थी ? मैंने देखा, पतली-लम्बी-सी मैं ऐंठ कर कैसी हुई जा रही हूँ। असह्य क्षोभ और वेदना से मैं बेहोश हो गई और उसके बाद जब मुझे होश आया, तब मैं अपने आप को पहचान न पायी। मेरा आकार-प्रकार, रंग-रूप सब कुछ क्या से क्या हो गया था। नहीं कह सकती, उस समय मुझे हर्ष हुआ था या विषाद; किन्तु इतना तो मानती हूँ कि एक छोटी अल्प-भाषिणी, उनींदी-सी तन्वंगी नर्तकी अपने स्वप्निल नर्तन से मेरे जीवन में और मानवता के इतिहास में कितना बड़ा परिवर्तन, कितनी बड़ी क्रान्ति बिखरा देगी, यह उस समय मैं नहीं समझ पाई थी, शायद सोच भी नहीं समझ सकती थी।"

बहुत-सी स्मृतियों में उलझी हुई-सी पूनी कुछ ठहरकर फिर बोली—"और इसके बाद का इतिहास तुम्हारे विकास का इतिहास है। मानवता ने तुम्हारा निर्माण किया था और तुमने मानवता का। फिर मानव की वह लज्जावती अपूर्णता को जो किसी दिन छुई-मुई-सी अपनी असुन्दरता के किसी झीने संकेत के स्पर्श से अपने आप ही सकुचकर सिहर-सी उठी थी, एक दूसरे दिन सम्पूर्ण सुन्दरता की न जाने किस कल्पित प्रतिमा के स्वप्न-दर्शन से आत्म-विभोर होकर उसे अपनी बना लेने और स्वयं उसकी बन जाने के लिए उन्मादिनी-सी हो उठी।

"किसी दिन अपनी अपूर्णता की अनुभूति में मानवता को आत्म-दर्शन हुआ था, आज किसी सम्पूर्णता की कल्पना में उसे परमात्मा का

दर्शन हुआ। अब तक उसने किसी असुन्दरता को छिपाया भर था और आज वह सुन्दर बनने के लिए शृंगार करने चल पड़ी।

"वह गोधूलि के बादलों से, इन्द्रधनुष से, तितलियों से घास-फूलों रंग माँग लाई और मुझे और मेरे सारे परिवार उन्हीं में रँग कर तुम्हारे अभिराम नर्तन के प्रवाह में छोड़ दिया और फिर तुम्हारे परिश्रम को बचाने और तुम्हारी गति को और भी प्रखर करने के लिए तुम्हारे पैरों में पहिये और चरखे लगा कर जो उन दिनो तुम्हारा अभिनव शृंगार किया गया, उसे देखकर मेरा विश्वास है, शायद तुम भी अपने आपको नहीं पहचान पाती।"

"मेरा शृंगार?" तकली ने विस्मित-सी होकर पूछा।

"हाँ, तुम्हारा शृंगार! किन्तु ठहरो, कहानी के पहले भी कहानी होती है। निर्झरिणी या प्रपात में जो कहानी है उससे भी पहले है कहानी। उससे हुए समुद्र का निःश्वास बनकर उठने वाले उन बादलों की जो सरिताओं के अभिशाप से पर्वतों पर ओले बनकर ढह पड़ते है। एक और कहानी है जिसका सम्बंध है मानवता से और शायद उससे भी अधिक तुम्हारे शृंगार से।

"काल के किसी अज्ञात बिंदु पर विधाता ने जब पंच महाभूतों की सृष्टि की थी, तब उनके एकाकी अस्तित्व की विराट व्यर्थता और पर्याप्तता उन्हें खलने-सी लगी। और तब तक एक दिन विश्व के उस एकत्व के सूनेपन में बहुत्व का संचार करने के लिए उन्होंने पंच तत्वों के टुकड़े लेकर अपनी आत्मा के कण छींट दिये और तब सचेतनता का जन्म हुआ।"

"किन्तु युग-युग बीत गये और विश्व की उदासी दूर नहीं हुई। उसका सूनापन दूर हो गया, पर अकेलापन नहीं गया। बिजली चमक जाती, निर्झरिणी गा-गाकर थक जाती, कलियाँ खिल-खिलकर मुरझा जातीं, ऋतुएँ आ-आकर लौट जातीं और वे सचेतन प्राणी भाव-शून्य

आँखों से उन्हें देखकर मुँह फेर लेते। प्रकृति की उमड़ती हुई जवानी सचेतनता के अल्हड़ अबोध बचपन को गोद में ले छाती से चिपका कर मानो फूट-फूटकर सिसक उठती।"

"और तब विद्युत् की तड़फड़ाहट और ज्योत्स्ना के आँसुओं पर पसीज कर विधाता ने सोचा, एक ऐसी रचना करनी चाहिए जिससे विश्व की विभूतियों का यौवन सार्थक हो, किन्तु ऐसी रचना के औचित्य में सबसे बड़ा आपत्तिजनक दोष यह था कि यह उपभोग्य और उपभोक्ता, आग और फूस, दोनों को एक साथ रखकर मानो विश्व में उपभोग-लालसा की अग्नि प्रज्वलित कर देता था।"

विधाता ने प्रकृति को बुलाया और पूछा—"आखिर तुम चाहती क्या हो?"

प्रकृति सकुचा कर चुप रह गई।

विधाता ने गम्भीर स्वर में कहा—"देखो, मैं जानता हूँ तुम युवती हो और तुम्हारे सार्थक यौवन की वेदनाओं को भी मैं समझता हूँ…"

प्रकृति चमत्कृत हो उठी और जाने के लिए उठ खड़ी हुई, तब तक उसे रोककर विधाता ने कहा—"सुनो, आज जो मैं निर्माण करने जा रहा हूँ वह असाधारण और अभूतपूर्व होगा। उसमें केवल चेतनता ही नहीं, अनुभूति भी होगी और वह सौन्दर्य और शक्ति का केवल उपासक ही नहीं होगा, किन्तु उसमें अपनी उपासना को सफल बनाने की शक्ति भी होगी। वह पूजा करना ही नहीं, वरदान प्राप्त करना भी जानेगा। किन्तु तुम यह जान लो कि उसके लिए उपास्य का सबसे बड़ा वरदान ही सबसे बड़ा अभिशाप होगा। उसका वर-लाभ ही उसकी मृत्यु होगी। मुझे और कुछ नही कहना, अब तुम जा सकती हो।"

ऊपर से अत्यन्त उदासीन, किन्तु हृदय में अत्यन्त प्रफुल्लित होती हुई प्रकृति चली गई और उसी दिन चेतनता में अनुभूति के कतरे चुराकर विधाता ने मानवता की रचना की।

"किन्तु" तकली ने पूछा—"यदि विधाता को इतना डर था, तो फिर उन्होंने मानवता को बनाया ही क्यों ?"

"यदि मानवता नहीं तो उसी तरह की कोई दूसरी वस्तु तो उन्हें बनानी ही पड़ती। किन्तु हाँ, उसके अनुभूति-पक्ष को इतना सबल बनाकर उसके आत्म-निग्रह-पक्ष को इतना दुर्बल उन्होंने क्यों बना दिया, यह अवश्य एक प्रश्न है और इसका उत्तर मेरे पास नहीं है।"

"अच्छा तब ?"

कुछ ठहर कर पूनी बोली—"विधाता की आशंका बहुत अंशों में सत्य निकली। प्रकृति के यौवन के आकर्षण से मानव नहीं बच सका और मानव की उपासना पर प्रकृति मानो फिसल पड़ी।"

बादलों के भीतर झाँकती हुई बिजली से मानव ने कहा—"तुम वहाँ अकेली उद्भ्रान्त-सी क्यों घूम रही हो। प्रिये, मेरे पास आओ, मैं तुम्हें अपने प्राणों में बसाकर रखूँगा। इस मिलन में तुम्हारे और मेरे जीवन की चरम सार्थकता है।"

और बिजली अनखाकर छिप गई। किन्तु छिपी न रह सकी। अंत में एक दिन बहु ही लजाती-सकुचाती उसके हाथों में उसने आत्म-समर्पण कर दिया।

"फिर मानव ने पृथ्वी के गर्भ से, समुद्र की लहरों से, सूर्य की किरणों से और वायु के झकोरों से और असंख्य अन्य विभूतियों से प्रेम और परिचय बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। मानव गोकुल का कन्हैया बन बैठा और प्राकृतिक विभूतियाँ ब्रज की गोपियाँ बनकर उसके साथ रास विलास करने लगीं और तब आँख-मिचौनी के खेल में एक दिन वे कहाँ से कहाँ कितनी दूर निकल गए, इसका किसी को ध्यान ही न रहा।"

पूनी ठहर गई और तब तकली ने टोका—"किन्तु सुनो तो ! तुम जो पहली कहानी कह रही थी, वह भूल तो नहीं गई ?"

"नहीं, भूली नहीं हूँ। अब उसी पर आ रही हूँ। कह चुकी हूँ कि एक दिन सम्पूर्ण सुन्दरता की झलक में मानव को परमात्व-तत्त्व की झाँकी मिली थी और तब उसमें तन्मय हो जाने के लिए यह आकुल हो उठा था। उस आकुलता ने उसके शृंगार का रूप धारण किया था।

"किन्तु तब उससे एक अत्यन्त ही घातक भूल हो गई और वह यह कि उसने शृंगार को उपासना न बनाकर वासना बना लिया। उसकी कला में पवित्रता का स्थान सफ़ाई ने ले लिया, उसकी भक्ति आसक्ति बन गई। जब रूप-रंग और आकार-प्रकार में निहित सौन्दर्य को वह विकल, बुभुक्षित-सा चूसने लगा, उस समय जान पड़ा उसका पैरा तले कुचला पड़ा विजित पशुत्व एक बार फिर मानो प्रतिकार की भावना से स्पन्दित होकर अँगड़ाई ले उठा।"

"किन्तु ऐसा क्यों हुआ?"—तकली ने पूछा।

"शायद इसलिए कि मानव-सौन्दर्य की साधना से सौन्दर्य के उपभोग अलग नहीं रख सका। उसमें भोक्तृत्व विधातृत्व से प्रबल हो उठा। वह जिस सौन्दर्य का निर्माण करता था उसे अपनी कन्या की तरह पवित्र समझकर उसे अपने हाथों से किसी दूसरे को समर्पित कर दे सके ऐसी त्याग-शक्ति का उसमें विकास नहीं हो सका। उसने जीवन को मृत्यु से पृथक् समझा और शरीर को आत्मा से और जीवन से शरीर का सम्बंध रखा और मृत्यु से आत्मा का। उसके जीवन के आशावाद को मृत्यु के नैराश्यवाद ने ढँक लिया और उस नैराश्य के निविड़ान्धकार में उसकी सारी आस्तिक भावनाएँ डूब-सी गई। फिर तब इस निरीश्वर और नैतिक न्याय-विहीन संसार में उपभोग के अतिरिक्त और रहा ही क्या, न जाने क्यों अँधेरे में वासनाएँ स्वभावतः फुसफुसा उठती हैं?"

"और तब उसी समय प्राकृतिक विभूतियों का परिचय उसके जीवन में एक महान दुर्ग्रह की तरह आ पड़ा।

"बहुत दिन पहले विधाता ने सोचा था और शायद ठीक ही सोचा था कि मानव का सबसे बड़ा शत्रु होगा प्रकृति का यौवन। और इसका कारण यह नहीं कि प्रकृति में स्वयं कोई दूषण है, अपितु इस-लिए कि वह मानव के उपभोग का बाजार बसाने में मयदानव से भी अधिक मायाविनी होगी।

"सचेतन व्यक्ति जिस अस्त्र से अपने शत्रुओं का नाश कर सकता है, अचेतन होने पर उसी से वह आत्महत्या भी कर सकता है। प्रकृति की जो शक्ति आसमान से तारे तोड़कर ला सकती थी वही मानवता को तहस-नहस भी कर सकती थी। तपस्वी मानव के हाथ में जो शक्ति प्रणव नाद बन सकती थी, विलासी मानव के हाथ में जाकर वही प्रलय का ताण्डव बन गई। बीजाक्षर मंत्र का उपयोग हुआ मारण, मोहन और वशीकरण के लिए।"

तकली कुछ ऊब कर बोली—"लेकिन वह कहानी तो रह ही गई ···"

पूनी ने हँसकर कहा—"ठहरो, अब मैं उसी पर आ रही हूँ। मानव ने प्राकृतिक विभूतियो से केवल अपना ही शृंगार नहीं किया, अपने सौन्दर्य के साधनों का शृंगार करना भी प्रारम्भ कर दिया। और वह इसलिए जिसमें उसके उपभोग की सामग्रियाँ प्रचुर परिमाण में और शीघ्र मिल सकें। ज्यों-ज्यो उसकी प्रकृति पर विजय होती गई और ज्यों-ज्यों उसके साधन प्रबल तथा परिष्कृत होते गए, त्यों-त्यो प्रकृति पर उसका अधिकार बढ़ता गया। इस प्रकार एक दूषित चक्र-सा बन गया और इस चक्र की परिधि दिनोंदिन बढ़ने ही लगी।

"अन्त में एक युग ऐसा आया, जब तुम्हारे पैरो में बिजली जोत दी गई थी, जिसमें···"

तकली सिहर उठी—"मेरे पैरों में बिजली?"

"हाँ, हाँ, बिजली!"

"वही...जो आकाश में चमकती है ?"

"हाँ, वही। और तब तुम्हारी गति इतनी प्रखर हो गई थी कि तुम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकती। मानव अपनी विजय पर हँस रहा था। उसने अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रकृति की शक्तियों को लगा रखा था और स्वयं केवल उसका स्वामित्व करता था। किन्तु उस समय वह अदूरदर्शी यह न समझ सका कि वह विजय ही उसकी सबसे बड़ी पराजय है। सारे संसार को जीतकर उसने अपने आपको खो दिया।"

"यह विजय की पराजय मैं समझ नहीं पाई।" तकली ने कहा—"क्या इसका अर्थ यह है कि..."

"इसका अर्थ बहुत सीधा है। विधाता ने मानव को जब बनाया, तब उसके शरीर में जीवन-धारण करने और उपयोग एवं उपभोग की आवश्यक वस्तुओं को पा सकने के लिए एक शक्ति का छोटा-सा कोष भी रख दिया था। किन्तु मानव तो बहुत बुद्धिमान था न, उसने तर्क किया—मेरा शक्ति-कोष तो बहुत छोटा है। अब यदि मैं इस कोष में से अपनी शक्ति का एक बहुत बड़ा अंश केवल उपभोग की सामग्रियों को जुटाने में खर्च कर दूँ, तो फिर उनका उपभोग किस शक्ति से करूँगा ? तब एक अत्यन्त व्यावहारिक गणितज्ञ की तरह उसने सोचा—मैं उपभोग की सामग्रियों जुटाने में तो प्रकृति की शक्ति लगाऊँ और अपनी शक्ति केवल उपभोग के लिए रख छोड़ूँ। इस प्रकार अधिक से अधिक उपभोग करने के लिए ही उसने अपनी शक्ति संचित कर रखी। किन्तु इस प्रकाण्ड पाण्डित्य पूर्ण तर्क में वह एक छोटी-सी बात भूल ही गया। अपनी समस्त सत्ता को उपभोग पर केन्द्रित करके वह अपने व्यक्तित्व का जो यंत्रीकरण कर रहा था, उसमें उसकी आत्मा अजायबघर में काँच के बर्तन में रखी हुई चिड़िया की तरह चिर-नवीन, चिर-सुन्दर फिर भी चिर-निष्प्राण बन जायेगी और तब एक दिन जब

विश्व करवट ले उठेगा, उस दिन वह सजीव बनकर अपने को बचा नहीं सकेगा, निर्जीव-सा लड़खड़ाकर ढुलक जायेगा—यह उसकी कल्पना में नहीं आ सका। ऐसा भी कोई दिन आयेगा, यह मानव सोच ही नहीं सका।

"किन्तु आखिर वह दिन भी आ ही गया। विश्व ने करवट ली और उसे दिन यंत्रीभूत मानवता के टुकड़े-टुकड़े हो गए।

उपभोग से लोभ आया, लोभ से स्वार्थ और स्वार्थ से संघर्ष। मानवता के सभी टुकड़े आपस में जूझ पड़े।

और इसके दो महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। पहला यह कि प्रकृति के रथ पर चलना सीख जाने के बाद मानव अपने पैरों पर चलना भूल गया। वह प्रकृति को दासी बनाने चला था और स्वयं उसका दास बन गया। दूसरा यह कि उसकी अपनी शक्ति का मूल्य अपनी आँखों में ही घट गया। नौकरी के लिए व्यक्ति से यंत्र ही अच्छा होता है। व्यक्तित्व अदम्य होता है, और उसका मनमाना उपयोग नहीं किया जा सकता। किन्तु यंत्र तो अपने स्वामी की इच्छाओं का ही पुँजीभूत स्वरूप है, किसी सजीव व्यक्तित्व का ही निर्जीव प्रसार। शीशे की तरह होकर भी नहीं-सा होने का गुण उसमें नहीं है। और तब इस भोगधर्मासंसार में निर्बल सजीव सबल निर्जीव के आगे परास्त हो गया। मानवता के एक वर्ग के प्रकृति के साथ षड़यंत्र करके और दूसरे वर्गों को कुचल डाला। फिर तिलोत्तमा-प्रकृति के उपभोग के लिए एक भाई ने दूसरे भाई से कहा—"युद्धं देहि।"

"वह युग अभाव का नहीं प्रचुरता का था। किन्तु इस प्रचुरता का सारा स्वत्व केवल उसी वर्ग के हाथ में रहा जिसके हाथ में वे उत्पादक यंत्र थे। दूसरे वर्गों के पास न तो उत्पादन का उपकरण था और न अपने में वह शक्ति जिसका मूल्य इतना हो कि उसके विनिमय में वे उस उत्पादित समृद्धि को पा सकें। उन्होंने प्रकृति की शक्ति तो

पायी नहीं जो अपनी शक्ति थी उसे भी खो बैठे और जो बची-खुची शक्ति थी उसका विनिमय के लिए मूल्य ही नहीं रहा। उस युग की प्रचुरता ही उसकी दरिद्रता बन गई। विधाता की आशंका सच निकली। प्रकृति का वरदान ही अभिशाप हो गया।"

"और...और...मैं?" तकली ने कुछ सहम कर पूछा।

"तुम भी इस नियम का कोई अपवाद न थी, किन्तु उसे भूल जाओ। उसमें तुम्हारा दोष नहीं था। दोष तो सारा पथ-भ्रान्त मानवता का था। उसने प्रकृति पर विजय पायी; किन्तु उसके मूल्य में पेशगी आत्मा देनी पड़ी और बाद में रक्त। अधिकारों का महान संग्राम छिड़ गया। निर्जीव को प्राप्त करने के लिए सजीव मरने-मारने को तैयार हो गए। मानवता ने आत्म-हत्या पर कमर कस ली। आकाश और पृथ्वी काँप उठे, विधाता का आसन थर्रा उठा और तब उसी समय पृथ्वी पर एक महत्वपूर्ण घटना घटी। पूर्व के क्षितिज पर एक महान आत्म-शक्ति का उदय हुआ।

"वह महान आत्मा मानवता का सर्वोच्च आत्म-शिखर बन गया। विश्व ने उसे महात्मा कहकर सम्बोधित किया। उसने अपने जीवन के बीच-बीच में आत्म-शुद्धि के जो कठोर यज्ञ किये, उनसे यह जान पड़ता है कि वह वहाँ पहुँच गया था, जहाँ द्वित्व की सारी भावना लुप्त हो जाती है और विश्व की सारी सदोषता का दायित्व बिजली-सा उस समस्त एकत्व के अकेले, ऊँचे नुकीले प्रतिनिधि शिखर पर ही टूट पड़ता है। किन्तु दायित्व झेलकर भी वह उस समय मानवता को ऊपर न उठा सका। तब मानवता की सतह उसकी ऊँचाई की तुलना में मानो और भी नीची दीखने लगी। वह युग शायद अत्यन्त निकट से देखने के कारण उसे पहचान न सका। मेरा विश्वास है कि यदि उसके युग ने उसे पहचान पाया होता, तो मानवता का इतिहास आज कुछ दूसरा होता।

"उसने बताया कि पशुत्व से देवत्व की तीर्थ-यात्रा का ही नाम मनुष्यत्व है और उस लक्ष्य-बिंदु तक पहुँचना ही विधाता की मानव को चुनौती है। यह चुनौती क्यों दी गई और इसका आदि क्या था तथा अन्त क्या होगा, यह मानव नहीं समझ पाता। किन्तु नहीं समझ पाने के कारण ही उस चुनौती की उपेक्षा कर देना, उसे भूल जाना गलत है। मनुष्य पृथ्वी पर चलता है और पानी में तैरता है। इसी प्रकार अपनी सीमाओं के भीतर वह तर्क करता है और उसके बाहर केवल विश्वास; न चलने से तैरना कम सत्य है और न तर्क से विश्वास। विश्वास पूर्वक इस चुनौती को स्वीकार करके अपने लक्ष्य तक पहुँचने का सच्चा प्रयत्न करना ही जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है।

"लक्ष्य वही है जो सत्य हो और पथ वही है जो अहिंसात्मक हो। 'सत्य' और 'अहिंसा' इन दो शब्दों से उनके धन्वंतरि की हरीतकी और बहेरा की तरह मानवता के सारे रोगों के लिए एक नैतिक-आयुर्वेद-शास्त्र की ही रचना कर डाली।

"पथ पर मानवता की सबसे बड़ी बाधा है विषयासक्ति। पशुत्व की चुम्बक-शक्ति ही विषयासक्ति है। किन्तु पृथ्वी की चुम्बक शक्ति की तरह इसे भी परास्त करके जो ऊपर उठता है वही सचमुच उत्थान करता है। पशुत्व के स्वभाव को देवत्व की भावना से पराजित कर देना ही सबसे बड़ा नैतिक स्वास्थ्य-लाभ है।

"किन्तु तब इस पराजय में मनुष्य की नैतिक दुर्बलता से भी अधिक बाधा दी उसकी बौद्धिक सफलता ने, अपने आपको परास्त न कर सकने पर मनुष्य अपने अस्तित्व का सारा बल लगाकर प्रकृति को परास्त करने चल पड़ा और ज्यों-ज्यों प्रकृति के आवरण उसके सामने खुल-खुलकर गिरने लगे त्यों-त्यों उसकी उन्मत्तता बढ़ने लगी।

"प्रकृति मायाविनी है। मोहिनी-सी बनकर मानव को अमृतत्व से वंचित करने के लिए ही मानो उसने अपने यौवन की सारी निधि उसके

सामने बिखेर दी। और जिस दिन मानव ने उसके उन्मादक आलिंगन में अलस, शिथिल-सा अपने को डाल दिया, उसी क्षण वह अपने धुर और ध्येय से विपथगामी हो गया।

"और तब महात्मा ने कहा—यदि मानव अपनी मंज़िल तक पहुँ-चना चाहता है, तो उसे प्रकृति के बाहुपाश से अपने को छुड़ाना होगा। अर्जुन ने सम्मोहिता उर्वशी को माँ कहकर पुकारा था और मानव को भी प्रकृति को माँ कहकर पुकारना पड़ेगा। उसे प्रकृति का प्रेमी नहीं, उपासक बनना पड़ेगा। और जिस दिन मातृत्व की यह भावना उसकी आँखों पर छा जायेगी उसी दिन वह सत्य, शिव, सौन्दर्य आकर उसके सामने बिछ जायेगा जिसकी झिलमिल झलक ने उसके प्रत्यूष-काल में राशि-राशि प्रेरणाओं से उसके प्राणों को स्पन्दित कर दिया था।

"महात्मा सिद्धान्तवादी से भी अधिक व्यवहारवादी था। अपने जीवन में इस महान सत्य का उसने केवल प्रचार ही नहीं किया, प्रयोग भी किया। और तकली! तुम्हारे जीवन की इस महानता पर सबसे अधिक ईर्ष्या होती है, वह यह कि अपने प्रयोगों का सबसे प्रथम और प्रमुख क्षेत्र उसने तुम्हीं को बनाया।

तकली सिहर-सी उठी, पर कुछ बोली नहीं। पूनी कहने लगी—"उसने तुम्हारे पैरों से बिजली के पहिये—चरखे खोल दिये और तुम्हारे संचालन के लिए एक बार फिर मानव-शक्ति का उपयोग किया। वह तुम्हें अप्राप्यता की ऊँची चोटी से उतार लाया जिसमें मानव-शक्ति तुम्हें भेंट सके और तुम्हारी गति कम कर दी जिसमें मानव तुम्हारे गले में हाथ डाल चलकर चले। उसने सौन्दर्य का स्वरूप बदल दिया। शृंगार की परिभाषा उलट दी और कला को नया अर्थ दे डाला। उसने जीवन के मधु-पात्र में से मदिरा उड़ेल कर उसमें स्वच्छ पानी भर दिया।

"किन्तु उस समय इसका विश्व-व्यापी विरोध हुआ। मदिरा से छकी हुई सभ्यता ने, जिसके पैर नशे में तिलमिला रहे थे, सिर घूम रहा था और जीभ लड़खड़ा रही थी, उसे अर्द्ध-नग्न, अर्द्ध-क्षुधित, राजद्रोही फ़क़ीर और बर्बर प्रतिगामी और न जाने क्या-क्या कहा। पर इन सब विरोधों को रुग्ण मस्तिष्क का विकृत प्रलाप समझकर एक चिकित्सक की शान्त प्रफुल्लता से उसने इनका स्वागत किया। उसके जीवन का एक विशाल अंश लोहे के सींकचों के भीतर जेल की अँधियारी में बीता और अन्तिम बार जो उसे इस महातीर्थ की यात्रा करनी पड़ी थी। वह इसलिए कि अपने विशाल-यज्ञ की पूर्णाहुति करने के लिए मानवता ने विशाल युद्ध रचा था और तब महात्मा ने सरल भ्रान्त आत्माओं को समझाया कि ऐसे हिंसात्मक अनीतिपूर्ण युद्ध में भाग लेकर उपयोग की वेदी पर अपनी बलि करना अपने और मानवता दोनों के प्रति पाप है। मुझे याद है, जब प्रलय की रागिनियाँ चारों ओर से बज उठीं, तब उसने एक लम्बी साँस लेकर कहा था—माँ, वह तुम्हारा ही तो पुत्र है और···"

"किन्तु, यह तो असंभव-सा लगता है कि···"

"हाँ, पर जब असंभव संभव होता है, तभी तो क्रान्ति भी होती है? उस युग ने महात्मा की उपेक्षा की, उसके उपदेशों को ठुकरा दिया; किन्तु वह उस महान सत्य को नहीं ठुकरा सका जिसकी वह भविष्यवाणी कर रहा था। विलास का अन्त हुआ संघर्ष और संघर्ष का अन्त हुआ विध्वंस और तब क्रान्ति आयी और अन्त में कितने ही युग बाद जब विश्व का पुनर्निर्माण शुरू हुआ, तो उसकी नींव में वे ही दो मूल तत्व रखे गए—सत्य और अहिंसा।

"काल-पथ के असीम प्रसार में अपना मार्ग खोकर बहुत-सी ठोकरें खाने के बाद मानव अंत में फिर वहीं पहुँचा, जहाँ से उसने यात्रा प्रारम्भ की थी। किन्तु स्वर वही होने पर भी सप्तक बदल गया था,

बिंदु वही था, किन्तु कोण दूसरा था और तब एक दिन उसने घुटने टेककर कहा—'प्रकृति ! तुम मेरी माँ हो···' प्रकृति संकोच से गड़ गई और स्वर्ग में विधाता हँस पड़ ।

"और तकली ! आज ठीक वही पुण्यमय क्षण है, जब तुम्हारी युग-युग की पाषाण निद्रा टूट गई । यह अतीत और भविष्य का संक्राति काल है और शायद इसी कारण इसके निःश्वास से तुम जाग उठी हो । अतीत भी तुम्हारा ही था और भविष्य भी तुम्हारा ही होगा । अब तक तुम्हारा संचालन प्रकृति ने किया था, अब मानव करेगा; आज तक तुमने उपभोग करना सिखाया, अब त्याग करना सिखाओ । एक दिन महात्मा ने अपनी आत्मा के संगीत पर ताल देते हुए तुम्हें अपना चिर-विस्मृत नृत्य फिर से सिखाया था और आज उस नियति के तन्तुकार की कला से तुम मानवता के नव निर्माण का वितान खड़ाकर दे सको, वह क्षण आ गया है ।

"आज से जाने कितने युग पहिले ठीक इसी क्षण में उसने कहा था, 'माँ, वह तुम्हारा पुत्र है...' और आज युग-युग बाद उसी क्षण में···उसी पवित्र बेला में···उसी···"

जान पड़ा, पूनी का गला भर-सा आया, उमड़ती हुई आँखें उसने दूसरी ओर फेर ली । तब तकली ने एक लम्बी साँस ली और फिर नाचने लगी ।

खँडहर

मैं पूछती हूँ, जीवन क्या केवल एक कहानी है ?

क्षितिज की इस छोटी-सी धुँधली रेखा के भीतर अपना नन्हा-सा संसार बनाकर बहुत दिनों से हूँ और न जाने कब तक रहूँगी। वेदना और उल्लास, आँसू और मुस्कान के कितने ही रंगों में मेरा ईंट-पत्थर का यह जीवन मानो इन्द्रधनुष बन गया है। मैं हँसती हूँ, रोती हूँ, गोधूलि के धूमिल प्रकाश में मेरे भग्नावशेषों पर पक्षी बैठकर जो सान्ध्यगीत गा जाते हैं, उन्हें निशीथ की स्वप्निल नीरवता में मैं गुनगुनाया करता हूँ और सावन के सजल कजरारे मेघों की साँवली छाया में मेरे उजाड़ आँगन के अल्हड़ घास-फूस जब लहलहा उठते हैं, तब अतीत की स्मृतियों से उलझी हुई भी मैं सिहर पड़ती हूँ।

एक समय था—बहुत दिन हुए—कभी मैं भी तरुणी थी। मेरी चूने से रँगी हुई कुन्देन्दुतुषारहारधवला अट्टालिकाओं की मस्त जवानी पर चन्द्रमा की किरणें चुटकियाँ लेती और आवारे बादल आकाश से मेरे चारों ओर मँडराया करते। मेरी नई वार्निश से चमकती हुई खिड़कियों के साथ हवा के झोंके अकारण ही छेड़छाड़ करते रहते। किरीट की तरह मेरे मस्तक पर हल्की जालीदार मुँडेर थी और दीवारों में कार्निश की मेखला। कर्णफूल और कुण्डल की तरह कड़ियों में गमले लटकते थे। सामने आम और मौलसिरी के दो वृक्ष थे और हाते के चारों ओर नीले काँटे की झाड़ी। छोटी और तन्वंगी होने पर भी मैं सुन्दरी थी और ईंट-पत्थर की होकर भी हृदय में नवयौवन की मादकता का अनुभव करती थी।

मेरा जीवन उस समय चन्द्र-किरण की तरह शुभ्र, स्वच्छ, निर्मुक्त था। उसमें प्रकाश था, किन्तु जलन नहीं; चंचलता थी, बेचैनी नहीं।

किन्तु एक दिन अचानक मेरे जीवन में चुपके प्रत्यूष घुस आया। हृदय की सफ़ेदी पर अनुराग की लालिमा ढुलक गई। बचपन की खिलखिलाहट में यौवन की वेदना फूट पड़ी। ज्योति में ज्वाला का संचार हुआ। हृदय को जान पड़ा, कुछ खो-सा गया है; आँखों को लगा, मानो कोई निधि मिल गयी है! मेरे सामने की सड़क पर एक दिन गोधूलि के माथे की बिंदिया की तरह एक विशाल प्रदीप जगमगा उठा—स्निग्ध, स्वच्छ, उदार। मौलसिरी की पत्तियों की ओट से मैं विमुग्ध-सी उसे देखती ही रह गई।

मैंने अपनी उत्सुकता को दबाकर, दूसरी ओर देखते हुए, मौलसिरी से पूछा—"सखी, यह कौन है?"

वह पक्षियों को सुला रही थी; बोली—"मैं क्या जानूँ, जहाँ तू वहाँ मैं।"

इतने में पास से तार का खम्भा बोल उठा—"जीजी, तुम इसे पहचानती नहीं?"

मैंने बड़ी लापरवाही से कहा—"उहूँ।"

वह हँसकर बोला—"अच्छा, तो मैं तुम सब लोगों का परिचय करा दूँ। इनका नाम है श्री म्यूनिसिपल लैम्प। इनकी तारीफ़ यह है कि दिन-भर सोते और रात-भर जागते हैं। ये हमारे नगर के स्थानीय राजसत्ता के प्रतिनिधि हैं और सभ्यता के प्रसार के लिए आजन्म व्रती हुए हैं। संसार की शान्ति-रक्षा के लिए अपना जीवन......"

'बस, बस' लैम्प ने खिलखिलाकर कहा—"प्रथम परिचय के लिए इतना ही बहुत है। अब आप लोगों की तारीफ़?"

तार का खम्भा बोला—"यह हैं मौलसिरी दीदी। चिड़िया सुलाने और पंखा झलाने के सिवाय और इन्हें किसी काम से मतलब ही नहीं। और इनका नाम है शान्ति-निकेतन। हम लोग 'शान्ति जीजी' कहते हैं। ये बाहर से जितनी सुन्दर हैं, भीतर से उतनी ही कठोर और..."

लैम्प ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। मौलसिरी ने ज़रा-सा सिर हिला दिया। पर मैं उतना भी न कर सकी; मंत्रमुग्ध-सी खड़ी रह गई।

दूसरे दिन आम के पेड़ से और तार के खम्भे से सबेरे ही सबेरे बकझक हो गई। हवा के झोके से आम की एक डाल तार के खम्भे से टकरा गई। खम्भे ने झुँझलाकर पूछा—"अंधे हो गए हो क्या ?"

आम ने जवाब दिया—"अंधे हों मेरे दुश्मन।"

"तो मेरे ऊपर टूटे क्यों आते हो ?"

"तुम ऐसे कौन खूबसूरत हो कि कोई तुम्हारे ऊपर टूटने लगे।"

खम्भे ने झनझनाकर कहा—"तुम इसी योग्य हो कि तुम्हें जड़ से उखाड़ दिया जाय; मारा भी और बहस भी कर रहे हो।"

आम बड़े आवेश के साथ अपना सिर हिलाकर कुछ कहना ही चाहता था कि मौलसिरी ने बीच-बचाव कर दिया; बोली—"भई तुम लोग नाहक झगड़ रहे हो। सारे उत्पात की जड़ तो बस यह हवा है। क्यों भैया म्यू···म्यू···म्यू···छिः देखो, मैं नाम ही भूल गई।"

हम सबके सब हँस पड़े। झगड़ा हँसी में उड़ गया। मौलसिरी बोली—"भई तुम अपना नाम बदल डालो। देशी मुर्गी विलायती बोल, भला यह भी कोई बात है ?"

लैम्प ने हँसकर कहा—"तो फिर आप ही कोई नाम चुन दीजिये।"

अब नाम पर झगड़ा होने लगा। किसी ने कहा 'प्रदीप', किसी ने कहा 'दिनकर'! तार के खम्भे ने कहा—'आलोक-स्तम्भ'। आम ने भी कुछ कह देना आवश्यक समझा। बहुत देर तक अपने भारी मस्तक को हिलाकर बोला—'नक्षत्र-दीप।' आखिर मैंने भी शरमाते हुए मौलसिरी के कान में चुपके से कहा—'प्रकाश'। मौलसिरी ने बड़े उल्लास से कहा—"ठीक है, बस प्रकाश ही सबसे सुन्दर नाम है। आज से तुम हुए 'प्रकाश' क्यों, पसन्द है न ?"

लैम्प ने एक पारदर्शी दृष्टि से मेरी ओर देखा, फिर हँस पड़ा। बोला—"प्रकाश…नाम तो बहुत सुन्दर है, लेकिन एक शर्त है।"

"कहे जाइये"—आपने झूमते हुए कहा।

एक बार फिर लैम्प से मेरी आँखे चार हो गईं। मैं सकुच गई। वह कुछ ठहर कर मुस्कराता हुआ बोला—"मेरा प्रस्ताव है कि शान्ति जीजी का नाम भी बदल दिया जाय।"

तार के खम्भे ने पूछा—"क्यो?"

"कितने ही कारण हैं," लैम्प ने दार्शनिक स्वर में कहा—"और उनमें से एक कारण यह भी है कि शान्ति आन्तरिक शैथिल्य का निदर्शन है। यह नवयौवन की स्वाभाविक अवस्था कभी नही हो सकती। जवानी तो तूफ़ान है, उसे शान्ति कहना कुल्हिये मे हाथी बन्द करना है। और दूसरी बात यह है कि… …"

'दूसरी बात क्या है?' आम ने पूछा।

लैम्प ने किंचित् मुस्करा कर कहा—"यही कि हीरे की कनी को जबर्दस्ती जूही की कली बना देना न तो सभव है और न वाछनीय। जूही का सुकुमार सौन्दर्य अच्छी चीज है, किन्तु हीरे की कनी का तीव्र आलोक भी उससे किसी तरह घटकर नही।"

मौलसिरी ने मुझे चिकोटी काटी। तार के खम्भे ने कहा—"वाह, तुम बिल्कुल ठीक कहते हो।"

आम ने पूछा—"लेकिन फिर दूसरा नाम क्या होगा?"

लैम्प कुछ ठहर कर कहा—"पाषाणी जीजी!" सभी एक साथ ठहाका लगाकर हँस पड़े। मैंने आग्नेय नेत्रों से लैम्प की ओर देखा! किन्तु वह हँस पड़ा।

मैंने अपने आपसे पूछा—'इसने मेरा नाम पाषाणी क्यों रखा? क्या यह मुझे चिढाना चाहता है? या कोई उलहना दे रहा है? मेरा

कुतूहल बढ़ने लगा ? हृदय में गुदगुदी-सी होने लगी । इस नामकरण से मैं असन्तुष्ट हुई, ऐसा नहीं कह सकती । 'शान्ति! कोई बुरा नाम तो नहीं किन्तु फिर भी उसमें मादकता नहीं थी, रस नहीं था । उसमें एक प्रकार का भोलापन था, सुकुमारता थी, अल्हड़पन था; किन्तु··· किन्तु उसमें दार्शनिकता अधिक थी, कवित्व कम था । और पाषाणी ? कैसा चुभता हुआ नाम था ! कितनी वेदना थी, कितना उपालम्भ ! कितनी नटखटी ! मेरे कण-कण में प्रतिध्वनि गूँज उठी 'पाषाणी !' किसी अव्यक्त भावना से मैं सिहर-सी पड़ी, किन्तु फिर भी मन में निश्चय किया कि इससे इसी बात पर झगड़ा ज़रूर करूँगी ।

दो तीन-दिन यों ही बीत गए । मैं उससे कुछ बोलती नहीं थी, इसलिए कि झगड़ा करना था और झगड़ा नहीं कर पाती थी, क्योंकि अवसर नहीं मिलता था । फिर एक बात यह भी थी कि मैं स्वयं झगड़ा शुरू नहीं कर सकती थी । वह तो अपनी दुर्बलता का निदर्शन होता । मैं इस फेर में थी कि पहले वही बोले ।

एक रात के तीसरे पहर का समय था । अँधेरे आकाश में तारे स्मृतियों की तरह झलमला रहे थे । सभी सो गए थे । सड़क पर किसी एकाकी पथिक की मस्त तान रात के सूनेपन में घुमड़ती हुई चली जा रही थी । मेरी नींद उचट गई । मैंने देखा, लैम्प का आलोक बड़ी दूर तक उस पथिक को पहुँचा आया । तान धुँधली क्षितिज रेखा के उस पार जाकर निस्तब्धता में डूब गई । लैम्प बड़ी देर तक रात्रि के अंधकार में निष्प्राण ज्योतिर्बिन्दु की तरह खड़ा रहा, फिर एक बार चंचल हो उठा । मैं जग गई हूँ, यह न जाने उसने कैसे जान लिया ।

उसने कोमल विकम्पित स्वर में कहा—"पाषाणी जीजी ।"

मैं कुछ न बोली ।

उसने स्वप्निल की तरह कहा—"कितना सुन्दर गीत था ! कितना दर्द था, कितनी मिठास ! हृदय की वेदना विजनता में इतना निखर क्यों पड़ती है, तुमने कभी सोचा है ?"

मैं फिर भी कुछ नहीं बोली।

कुछ रुककर वह फिर कहने लगा—"आधी रात महाप्रलय की अमर शान्ति का ही छोटा प्रतिबिम्ब है। इसकी शून्यता में जगकर व्याकुल प्राण अपने अकेलेपन पर सिहर उठते हैं। एकत्व में अधूरापन है, अशान्ति है, द्वित्व ही परिपूर्ण जीवन है। जब एकत्व जगकर द्वित्व बनने के लिए क्षुब्ध, अशान्त हो उठता है, तभी उसकी वेदना विहाग बनकर फूट निकलती है...और...पाषाणी जीजी! सो गई क्या?"

मैंने बनावटी गम्भीरता के साथ पूछा—"तुम मुझे पाषाणी जीजी क्यों कहते हो?"

लैम्प ने विस्मित-सा होकर कहा—"क्यों कहता हूँ? तुम्हारा नाम जो यही है।"

मैंने सरोष स्वर में कहा—"तुमने मेरा नाम पाषाणी क्यों रखा?"

"कारण तो बतला चुका हूँ।"

"वह बिल्कुल गलत है। हीरे की कनी और जूही की कली की उपमा मैं नहीं समझी और समझना मैं चाहती भी नहीं। तुम्हें पाषाणी कहने का कोई अधिकार नहीं है।"

लैम्प हँस पड़ा। बोला—"जीजी, तुम ईंट-पत्थर की तो हो ही, फिर तुम्हें पाषाणी नहीं तो क्या कहूँ?"

मेरे सिर से पैर तक आग लग गई। मैंने कहा—"यदि यही बात थी, तो मैं भी तुम्हें 'काठ का खम्भा' या 'शीशे का सन्दूक' इत्यादि कह सकती थी, लेकिन मैंने तो..."

बात काटकर लैम्प ने कहा—"तुमने मेरा नाम 'प्रकाश' रखा, इस दुर्लभ सम्मान के लिए मैं तुम्हारा हृदय से कृतज्ञ हूँ, किन्तु कृतज्ञतावश झूठ तो बोलूँगा नहीं।"

मैंने आवेश के साथ पूछा—"इसमें झूठ-सच की बात क्या है ?"

लैम्प ने संयत भाव से कहा—"जिस सत्य को समझने में मुझे सारा जीवन लगा है, उसे एक क्षण में मैं तुम्हें समझा सकूँ, इतनी योग्यता मुझमें नहीं है; किन्तु फिर भी तुम पूछती हो, इसलिए कहता हूँ। स्त्री-हृदय की रचना दो द्रव्यों को मिलाकर हुई है। उनमें एक तो फूल से भी कोमल और ओस से भी सुकुमार है और दूसरा वज्र से भी कठोर और बिजली से भी तीक्ष्ण। दोनों के तारतम्य से ही···"

मैंने बात काटकर कहा—"तुम्हारी स्त्री-हृदय सम्पन्न इस विद्वत्तापूर्ण विवेचना को यदि सच भी मान लिया जाय तो भी मुझे अकारण कठोर कहने का तुम्हें कोई हक़ नहीं। मैंने तुम्हारे साथ कोई कठोरता तो की नहीं ?"

लैम्प हँसकर बोला—"तुमने मेरे साथ कोई कठोरता नहीं की, इसी कारण मैं तुम्हें कोमल समझूँ, यह तो कोई बात नहीं। क्षमा करना, तुम्हारी कठोरता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि तुम रूप-यौवन-सम्पन्न हो। ईश्वर जिसे समृद्धि देता है, उसे उसकी रक्षा के लिए अस्त्र भी दे देता है और तुम्हारा वह अस्त्र है कठोरता। इस नियम में अपवाद भी हो सकते हैं, किन्तु फिर भी इससे नियम की व्यापकता पर कोई असर नहीं पड़ता।"

क्षितिज के पूर्वी कोने में पीलापन भीन रहा था। प्रभात-वायु अँगड़ाई ले उठी। मौलसिरी पर सोये हुए पक्षी जाग उठे। हम दोनों चुप हो गए।

नारी-हृदय भी कितना बेसमझ है ! इच्छा होते हुए भी मैं उस पर क्रोध नहीं कर सकी। उसने मुझे कठोर कहा, ईंट-पत्थर और न जाने क्या-क्या बनाया, फिर भी मैं हृदय से उस पर नाराज़ न हो सकी। मैंने एक बार फिर अपने आप से पूछा—"क्यों मैं उसकी बातें सहती हूँ ? वह मेरा कौन है ?"

आँखों ने अन्तरिक्ष की ओर देखते हुए कहा—"वह दिव्य पुरुषत्व, वह ज्योतिर्मय हास, वह स्निग्ध तेज..."

कानों ने बात काटकर फुसफुसाते हुए कहा—"और उसके तिरस्कार में भी कितना रस है, उपेक्षा में भी कितना सम्मान ! उसकी वाणी..."

बीच में ही हृदय बोल उठा—"और सच पूछो तो..."

मैं समझ गई कि सभी मिलकर मेरे विरुद्ध षड़यंत्र कर रहे हैं। चुप हो रही। किन्तु क्रोध न कर सकने पर भी क्रोध का अभिनय करना ज़रूरी था। दो-तीन दिन तक मैं उससे बोली ही नहीं। सभी बातें करते रहते, मैं केवल सुना करती। लैम्प समझ रहा था कि मैंने उससे मान किया है और मैं भी समझ रही थी कि वह समझ गया है। फिर भी हम दोनों चुप थे।

एक दिन दिनान्त की अरुण प्रभा में रँगी हुई मैं रजनी के नव-यौवन के चिह्नों की तरह उगते हुए तारों को गिन रही थी। इतने में ही लैम्प ने पुकारा—"जीजी !" वहाँ एक मैं ही तो जीजी थी नहीं। कनखियों से एक बार उसकी ओर देखकर आकाश की ओर ताकने लगी। लैम्प ने फिर पुकार—"पाषाणी जीजी !"

मैं बोली कुछ नहीं, केवल उसकी ओर देखकर फिर आँखें घुमा ली।

उसने कहा—"एक बात कहूँ ?"

मैंने रूखे स्वर में कहा—"शौक से।"

वह कुछ सहमकर बोली—"लेकिन नाराज़ तो न हो जाओगी ?"

मैंने मन ही मन सोचा, अगर यही हो सकता तो फिर क्या बात थी। ऊपर से चुप रही।

वह बोला—"सान्ध्य बेला की इस सिन्दूर-वर्षा में तुम कितनी सुन्दर लगती हो ! जान पड़ता है, कोई हंसिनी अपने पंखों पर लाल फूल बिखराकर मुक्त आकाश में उड़ना चाहती है। तुम्हारी..."

मैंने बात काटकर आवेशहीन स्वर में कहा—"किन्तु मुझसे यह सब कहने का मतलब ?"

लैम्प सहम गया, फिर बोला—"मतलब ? कुछ नहीं। संसार में सारी बातें मतलब से ही नहीं होतीं। सृष्टि बिना किसी प्रयोजन के ही हुई थी। सारा नक्षत्र-मंडल निष्प्रयोजन ही आकाश के अनन्त विस्तार में अनवरत चक्कर काटा करता है। जीवन में प्रयोजन ही सब कुछ नहीं है। यह तो..."

मैंने बात रोककर आकाश की ओर देखते हुए कहा—"हो सकता है।"

लैम्प थोड़ी देर चुप रहा, फिर गम्भीर स्वर में कहा—"शान्ति जीजी, यदि तुम मेरे कहने का अर्थ और समझा तो...तो मुझे अत्यन्त दुःख है। मुझे क्षमा करो। यह मेरे जीवन की इस तरह की पहली और...और शायद अन्तिम भूल थी। मैं..." लैम्प चुप हो गया।

मैं रात को बड़ी देर तक जागती रही। मैं जैसा चाहती थी वैसा नहीं हुआ। मैं उसे चोट पहुँचाना नहीं चाहती थी, केवल झगड़ा करना चाहती थी। आधी रात में जब सभी सो गए, मैंने देखा, वह निर्निमेष दृष्टि से शून्य की ओर देख रहा था। चोट खाकर तेज और भी निखर पड़ा था। हृदय का आहत अभिमान आँखों में बिखर गया था। मैंने जीवन में पहली बार पुकारा—"प्रकाश ?"

वह चौंक पड़ा। फिर सँभलकर बोला—"मुझे पुकारा है ?"

मैं क्षमा माँगना चाहती थी, किन्तु शब्द जीभ पर आकर रुक जाते थे। पुरुषों की जीभ में विष भी है और अमृत भी, किन्तु स्त्रियों की जीभ में केवल विष ही होता है। उनका अमृत-कलश तो आँखें ही हैं। स्त्री के हृदय की भाषा जिह्वा की नहीं, आँखों की होती है। उसकी मूक दृष्टि में कितना बड़ा साहित्य भरा है; किन्तु इसे कोई क्या समझे। मैंने बात बदलकर कहा—"कितनी सुन्दर चाँदनी है !"

वह कुछ नहीं बोला।

मैंने कुछ ठहरकर पूछा—"कुछ सोच रहे हो क्या ?"

लैम्प कुछ हँस-सा पड़ा; बोला—"जो जन्म से ही अकेला है, उसके लिए सोचने को कुछ नहीं रह जाता, वह तो उसकी साँस में ही घुल जाता है।"

थोड़ी देर हम दोनों चुप रहे। सुनसान आधी रात मानो और भी निस्तब्ध हो उठी। मैंने फिर कहा—"प्रकाश, तुम्हारे इस तपोमय जीवन से मुझे ईर्ष्या होती है। काश, मैं तुम्हारी तरह···"

लैम्प हँस पड़ा। बोला—"शान्ति जीजी ! प्रशंसा करना तो पुरुषों का धर्म है, उसे पुरुषों के लिए ही छोड़ दो। तुम लोगों के लिए तो···"

"चुप क्यों हो गए ?"

लैम्प ने गम्भीर होकर कहा—"जीजी, जन्म से ही अकेला होने के कारण मैं भाषा और उससे भी अधिक अपने भावों पर संयम नहीं रख पाता। मेरे लिए सोचने और बोलने में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है; किन्तु इससे गलतफहमी हो सकती है और सच पूछो तो होती ही है।"

"क्यों होती है ?"—मैंने पूछा।

"इसलिए कि संसार शब्दों की हवा खोरी में विश्वास नहीं करता। उसके लिए तो शब्द किसी ज़रूरत, किसी प्रयोजन से ही बाहर निकल सकते हैं। इस व्यावसायिक संसार में निरुद्देश्य घूमने-फिरने की किसे फुरसत है ? भविष्य में मैं वाणी पर अधिक संयम रखने की···"

मैंने बात काटकर आवेश पूर्वक कहा—"प्रकाश, मेरे कहने का अर्थ दूसरा—बिल्कुल दूसरा था। तुम उसे समझे नहीं और शायद कभी नहीं समझोगे। फिर भी···फिर भी मुझे क्षमा करो।"

"और दूसरी एक और बात। 'पापाणी जीजी' ही कहना होगा। 'शान्ति जीजी' कहोगे तो मैं बोलूँगी ही नहीं। समझे ?"

लैम्प ने संकुचित-सा होकर कहा—"समझा।"

प्रेम हृदय का जागरण है। मेरे जीवन की प्रशान्त-स्निग्ध धारा में लालसाओं की छोटी-छोटी लहरें भर गईं। हृदय की सोई हुई साधें मचल पड़ीं। मेरे निःश्वास में अरमान भीन गए, हृदय के स्पन्दन में अनुराग बस गया। प्रेम ने युग-युग से सोई हुई भावनाओं की भीड़ को मानो झकझोर कर जगा दिया। मेरा स्त्रीत्व अहल्या की तरह उठ बैठा।

कार्तिक का महीना था। मेरे दरवाजे के सामने शरद का सौन्दर्य हरसिंगार के फूलों में टपका-सा पड़ता था। दीपावली की तैयारियाँ हो रही थीं। मेरा शृंगार किया जा रहा था। मैं चूने से नहाकर फूलों के आवरण पहन रही थी। शृंगार स्त्री की उपासना है। देवता को रिझाकर प्रेम-वरदान पाने के लिए उसकी तपस्या शृंगार का रूप धारण करती है। मैं सजती जाती थी और मन-ही-मन सोचती जाती थी, आज मैं अपनी जगमग से सबकी आँखें चकाचौंध कर दूँगी और लैम्प तो बस विस्मय-विमुग्ध हो जायेगा। मेरी आँखें अपनी ओर थीं; किन्तु कान उसी की ओर लगे हुए थे।

सन्ध्या हो गयी, बत्तियाँ जलने को आईं; किन्तु लैम्प चुप था—शान्त, गम्भीर, उदास। चारों ओर उल्लास उमड़ रहा था और वह उन लहरों में पत्थर की तरह निस्तब्ध खड़ा न जाने क्या सोच रहा था। आश्चर्य और झुँझलाहट से मैं बेचैन हो गई। मेरे हृदय में ठेस लगी। इतनी उदासीनता! इतनी उपेक्षा!

अँधेरा होने लगा। मेरे अंग-अंग में प्रदीपों के गहने सज गए। मेरी ज्योति से दिशाएँ प्रदीप्त हो उठीं। यौवन के ऊपर शृंगार-सोने की अँगूठी में हीरे की की कनी की तरह झिलमिला उटा। फिर भी वह कुछ नहीं बोला, मेरी ओर देखा तक नहीं! मैं अपना सर्वस्व लेकर उसके सामने खड़ी थी, अपने रूप-यौवन की सारी निधि खोलकर

प्रतीक्षा-पथ पर बिछा दी थी, किन्तु उसने उसे ठुकरा दिया। नहीं ठुकराया भी नहीं, सब कुछ भूल गया। मेरे अरमान कुचल गए! स्वप्न चूर-चूर हो गए। सारा शृंगार रखा रह गया। आहत अभिमान हृदय में व्यथा बनकर फैल गया।

इतने में ही तार के खम्भे ने कहा—"जीजी, आज तुम्हें देखकर जान पड़ता है कि नक्षत्र-लोक पृथ्वी पर उतर आया। बधाई।"

मोलसिरी हँस पड़ी; बोली—"तुम पुरुष हो, उपमा देना क्या जानो? काले-लोक से तुलना कैसी? क्यों नहीं कहते कि जीजी प्रदीपों से शृंगार करके नक्षत्र-लोक का उपहास कर रही है।"

मैंने लैम्प की ओर कनखियों से देखा, किन्तु वह एकदम चुप था, मानो कुछ सुनता ही नहीं। उसके लिए मेरा अस्तित्व नहीं के बराबर था। क्रोध और निराशा से मैं चंचल हो उठी।

आधी रात हुई। दीप मँझाने लगे। मैं तंद्रा में डूबी हुई थी। इतने में ही न जाने क्यों मैं जाग उठी और एकाएक चौंक पड़ी। मेरे बगल में अमरूद का एक बगीचा था और उसमें एक फूस की छोटी-सी झोपड़ी थी। धूप और पानी से उसका रंग काला पड़ गया था। हवा के झोकों ने उसे जर्जर कर दिया था। बाँस के दो-तीन टेढ़े-टेढ़े खम्भों के सहारे ही वह टिकी हुई थी। उसके सामने एक कच्चा चबूतरा था और उस पर एक तुलसी का वृक्ष। उस वृक्ष के नीचे दिवाली के तीन दीए थे जिनमें दो बुझ चुके थे और तीसरा टिमटिमा रहा था। मैंने देखा, झोपड़ी सिसक रही थी और लैम्प की किरणें रह-रहकर उसके आँसू पोंछ देती थीं। मेरा कुतूहल उमड़ पड़ा। यह कौन-सा नया खेल चल रहा है। मैं सतर्क होकर उनकी बातें सुनने लगी।

हवा का एक झोंका आया। झोपड़ी चरमरा उठी। लैम्प ने अवरुद्ध स्वर में पूछा—"क्या तुम्हें विश्वास है, मैं भी सबकी तरह तम्हें भूल जाऊँगा?"

झोपड़ी ने क्षीण स्वर में कहा—"कैसे कहूँ ?" मैं तो अतीत से मिलने जा रही हूँ। भविष्य में क्या होगा यह कौन जाने ? फिर भी यदि मुझे भूल न सको तो इतना करना कि कभी-कभी मेरे इस उदास जीवन की याद में दो-चार आँसू बहा दिया करना और...और..."

लैम्प ने रोक कर कहा—"अब तुम सो जाओ, तुम्हारा जी ठीक ठिकाने नहीं है।"

झोपड़ी सूखी से हँसी-हँसती हुई बोली—"सोना तो है ही; किन्तु मेरे जीवन में दीपावली क्या फिर कभी लौटकर आवेगी ? इस काली अमावस का सारा अंधकार तो आज सिमटकर मेरे हृदय में आकर बैठ गया है, तुम इसी से पूछो मेरी कहानी क्या है। हम दोनो एक दूसरे को पहचानते हैं।"

लैम्प गम्भीर होकर बोला—"नहीं, तुम्हें सोना ही पड़ेगा।"

"किन्तु मेरी बात तो सुन लो। क्या ऐसी घड़ियाँ फिर आवेंगी ? तुम नहीं जानते, मैं रोशनी से कितना डरती हूँ। सूर्य के प्रकाश में मैं अपने आपको देखकर घिना जाती हूँ। चन्द्रमा की किरणें मेरा उपहास करके चली जाती है। तुम्हारे उजाले में भी मुझे धड़कन-सी होने लगती है, क्या जाने कब तुम इस अस्थि-पंजर को देखकर सिहर उठे। मेरा जीवन का साथी तो बस यही अंधकार है। इसकी गोद में लेटकर मैं अपने आपको भूल जाती हूँ और तब...घबराओ नहीं, मैं तुरत सो जाऊँगी...और तब मेरी पलकों के नीचे मीठे-मीठे सपने बिखर जाते हैं। मेरी कल्पना में बाढ़-सी आ जाती है और मैं, किन्तु इन बातों से लाभ ही क्या ? अच्छा, अब मैं सो रहूँगी। क्यों अब तो खुश हो ?"

तुलसी के चबूतरे का टिमटिमाता हुआ आखिरी चिराग एक बार लौ फेंककर बुत हो गया। वहाँ अँधेरा हो गया। लैम्प ने धीमे स्वर में क्या कहा मैं नहीं सुन सकी। झोपड़ी सो गई। सारी रात मैं सो नहीं सकी। मैं बहुत थोड़ी-सी बातें सुन सकीं, किन्तु जितना मैंने सुना उसका

एकमात्र अर्थ यही था कि दोनो एक दूसरे से प्रेम करते हैं। मेरे हृदय को बड़ी चोट पहुँची। मैं घने अंधकार में थी। वह तो अपना हृदय किसी दूसरे को दे चुका है। फिर मैं उसकी कौन हो सकती हूँ? झोपड़ी के ऊपर मुझे दया भी आई, ईर्ष्या भी हुई और क्रोध भी आया। कैसी घुल-घुल कर बातें करती थी और किस तरह मानो अब बचेगी ही नहीं। कितनी ही परस्पर विपरीत भावनाओं से मैं डाँवाडोल हो उठी। मुझे याद नहीं आता, लैम्प के प्रति मैं क्रोध कर सकी या नहीं। केवल एक ही प्रमुख भावना मेरे हृदय में उठने लगी और वह यह कि मैं सर्वस्व देकर भी उसे अपना नहीं सकती। वह मुझे सुन्दरी समझता है, मेरा आदर करता है, फिर भी मुझसे प्रेम नहीं करता। सारा अतीत एक बार मेरी आँखो के सामने घूम गया और अपने को रोकते रोकते भी मैं रो ही पड़ी। मेरे स्वाभिमान को कड़ा धक्का लगा और मैंने निश्चय किया कि अब उससे कोई सम्बंध नहीं रखूँगी। स्त्री जितना प्रेम कर सकती है, उतना ही उदासीन भी हो सकती है। मैंने कहा, प्रेम कर चुकी, अब उदासीन बनूँगी।

कुछ दिन बीते। मैंने अपने अस्तित्व की सारी शक्ति लगा करके पूरी कठोरता के साथ अपना संकल्प पूर्ण किया। लैम्प भी शायद समझ गया और उसके पुरुषत्व की इससे अधिक प्रशंसा नहीं की जा सकती कि उसने मुझे अपना संकल्प पालने में यथाशक्ति सहायता दी।

और तब एक नयी घटना हुई। मुझे वे दृश्य अब भी याद हैं मानो अभी कल की ही बात हो। मेरे बगल वाले अमरूद के बगीचे में एक पक्का कुआँ था। फागुन का महीना था। बौरी हुई नयी मंजरियो के गुच्छों में से निकल कर कोयल की वेदना फूली हुई सरसों और अलसी के खेतो में बिखरी पड़ती थी। एक दिन अशोक के पत्तों से लदे हुए मेरे तोरण द्वार पर शहनाई बज उठी। मुहल्ले भर की स्त्रियाँ लाल-पीले कपड़े पहिन छम-छम करती मेरे आँगन में आ बैठीं। मौलसिरी ने

मुझे जोर से चिकोटी काटकर कहा—"कुएँ के साथ तेरी सगाई पक्की हो गयी।"

"मेरी सगाई ?" आश्चर्य से मेरी छाती धड़क उठी।

इतने में एक अमरूद खिलखिलाकर हँस पड़ा; बोला—"भाभी ! बलिहारी है इस भोलेपन की। तुम्हें अभी कुछ पता ही नहीं ?"

तार का खम्भा हँसकर बोला—"भई, वाह, अभी शादी हुई भी नहीं और तुमने भाभी का रिश्ता भी जोड़ लिया ?"

अमरूद बोला—"कुआँ दादा की बहू होकर ये मेरी क्या, सारे बगीचे की भाभी हुईं, क्यों भैया सेमर !"

बूढ़ा सेमर खाँसता हुआ बोला—"ज़रूर, ज़रूर।"

पास में ही एक मालती लता एक भौंरे का पराग चखा रही थी। वह विनोद से बोली—"सेमर दादा, बुढ़ापे में भी देवर बनने की साध नहीं गई ?"

सेमर ने कहा—"पगली, फागुन में भी कोई बूढ़ा रहता है ?"

सारा बगीचा खिलखिलाकर हँस पड़ा। उसी दिन कुएँ के साथ मेरा ब्याह हो गया। और उसी दिन आधी रात की निस्तब्धता को चिरती हुई बगीचे में कोई चीज़ खड़खड़ा उठी। मैं जग गई। मौल-सिरी पर के सोये हुए पक्षी काँव-काँव कर उठे। मौलसिरी ने चौंककर पूछा—"क्या है ?"

एक अमरूद बोला—"कुछ नहीं, झोपड़ी गिर गई।"

मेरे पतिदेव भी जग पड़े; पूछा—"क्या हुआ ?"

मैंने कहा—"वह बगीचे वाली झोपड़ी गिर गई।"

"कैसे गिरी ?"

"मालूम नहीं।"

"उँह, अच्छा हुआ, बला टली।" वे करवट बदलकर फिर सो रहे।

मैंने देखा, लैम्प निश्चल निर्विकार खड़ा होकर उस ध्वंस-राशि की ओर देख रहा था।

इसके बाद कितने दिन बीते, ठीक याद नहीं आता, एक युग-सा ही बीत गया। मेरे चारों ओर बहुत से परिवर्तन हो गए। मेरे पतिदेव ने एक दूसरा ब्याह कर लिया। उनकी नयी बहू एकदम नये फैशन की थी। चारों ओर शीशे जड़े थे। दीवारों पर रंग-बिरंगे टाइल लगे हुए थे और फर्श पर चीन के टुकड़े। चंपकलता की तरह पीला रंग था। दुबली, पतली, सलज्ज, छोटी, सुकुमार। उसे देखते ही प्यार उमड़ आता था। अमरूद का बगीचा कटकर अब वहाँ गर्ल्स कालेज हो गया था। मौलसिरी और आम भी अब वहाँ नहीं थे। मुझे याद है, जिस दिन मौलसिरी के सूखे शरीर को काटकर ले जाने लगे, उस दिन दिन मैं बहुत रोई थी। पुराने लोगों में केवल दो ही रह गए थे—तार का खम्भा और म्युनिसिपल लैम्प।

भादों का महीना था। अँधेरी रात! विधवा के भविष्य की तरह दिशाएँ अन्धकारमयी हो रही थीं। रिमझिम-रिमझिम मेह पड़ रहा था। सारा विश्व सपनों में लिपटा पड़ा था। एकाएक बादल घहरा उठे। बिजली तड़तड़ाकर चमकी और एक इमली के पेड़ को छेदती हुई पृथ्वी में समा गई। मैं सिहर उठी। उस क्षण को मैं जन्म-जन्मान्तरों में भी नहीं भूल सकूँगी। फुहारों में तैरती हुई आवाज आयी—"पाषाणी जीजी!"

इतने दिन बाद! वही मिठास, वही वेदना! ठेस खाकर स्मृतियाँ तिलमिला उठीं। मुझे जान नहीं पड़ा, उत्तर दूँ या चुप रहूँ।

लैम्प ने पुकारा—"पाषाणी जीजी, नहीं सुनती क्या?"

मैंने धड़कते हुए कलेजे से कहा—"प्रकाश, मुझे पुकारा है?"

"हाँ, तुम्हीं को पुकारा है। बिजली कहाँ गिरी?"

"शायद इमली पर।"

थोड़ी देर तक हम दोनों चुप रहे। मैं हृदय में एक आनन्दपूर्ण वेदना का अनुभव कर रही थी। 'गापाणी जीजी' पाँच अक्षरों में खोया हुआ यौवन टपक पड़ा। एक युग के बाद उसने मुझे पुकारा है, उसी कोमल स्नेह के साथ। मुझे जान पड़ा, मानो कोई स्वप्न देख रही हूँ।

"जीजी!"

"प्रकाश!"

"जानती हो, आज कितने दिन बाद मैं बोला हूँ?"

"तुम्हीं बताओ।"

"जिस दिन तुम्हारा ब्याह हुआ था, उसी दिन मैंने झोपड़ी से अंतिम बातें की थीं। तब से एक ज़माना बीत गया। आज अपना स्वर सुनकर मैं स्वयं चौंक पड़ा।"

झोपड़ी! उसके मुँह से झोपड़ी का नाम सुनकर हृदय में सिहरन-सी फैल गई। मुँह में कितनी ही बातें आयीं; किन्तु मैं कुछ कह न सकी, चुप रही।

उसने कहा—"कब तक मेरा यह जीवन नीरव गति से चलता, मैं कह नहीं सकता; किन्तु अब मैं जा रहा हूँ, इसलिए जी में आया कि तुमसे दो-एक बातें कर लूँ। तुम्हे कोई एतराज़ तो नहीं है?"

"तुम कहाँ जा रहे हो?" मैंने सहमकर पूछा।

तनिक हँसकर उसने कहा—"झोपड़ी के शब्दों में मैं अतीत से मिलने जा रहा हूँ।"

मैंने कम्पित स्वर में कहा—"मैं समझी नहीं···"

वह बोला—"प्रगति का तकाज़ा है कि मैं यहाँ से चला जाऊँ।" कल तुम देखोगी कि एक बिजली का खम्भा आकर खड़ा हो जायेगा और······"

"और तुम ? तुम कहाँ जाओगे ?"

"मैं !" सूखी-सी मुस्कान होठों पर बिखराकर उसने कहा—"इतिहास के कूड़े-करकट में। जहाँ झोपड़ी गयी, जहाँ मौलसिरी गयी, सभी गये और सभी जायेंगे, वहीं मैं भी जा रहा हूँ। किन्तु अभी छोड़ो उन बातों को। मैं तुमसे एक बात पूछूँ ?"

"पूछो।" मंत्र-मुग्ध की तरह मैंने कहा। उसने कुछ रुककर पूछा—"बुरा न मानना, मैं तो जा ही रहा हूँ। तुम मुझसे कभी······"

बिजली चमक उठी। वह रुक गया। लज्जा से मेरी आँखें झुक गईं।

"बतलाओ। नहीं बतलाओगी ?"

"क्या तुम स्वयं नहीं समझ सकते ?" मैंने क्षीण स्वर में कहा।

"तो फिर एकाएक इतनी उदासीन क्यों हो गई ?"

मेरा गला भर आया। मैं कुछ नहीं बोली।

"शायद तुमने समझा, मैं झोपड़ी से प्रेम करता था, क्यों ?"

"करते तो थे ही।" मैंने धीरे से कहा। लैम्प ज़ोर से हँसकर चुप हो गया। बूँदें ज़ोर से पड़ रही थीं। पृथ्वी और आकाश मिलकर मानो पावस राग गा रहे थे। बिजली नाच रही थी।

थोड़ी देर चुप रहकर लैम्प बोला—"जीजी !"

"कहो।"

"मैं सोचता हूँ, यह जीवन क्या है—सत्य या स्वप्न ? यदि यह सत्य है, तो फिर इसमें स्थायित्व क्यों नहीं ? यदि यह स्वप्न है तो इसका सत्य-स्वरूप क्या है ?

लैम्प कुछ ठहरकर फिर कहने लगा—"वह क्षण अब भी मेरी आँखों के सामने नाच रहा है, जब मौलसिरी की पंक्तियों की ओट से तुमने पहले-पहल कहा था—'प्रकाश' ! मेरे सुनसान एकाकी जीवन में द्वित्व की

छाया-सी पड़ गई, अन्तरिक्ष के अनंत प्रसार में निरुद्देश्य घुमड़ती फिरने वाली मेरे जीवन की बेसुरी तान को मानो वीणा के पतले तारों का सहारा मिल गया। षड्ज को पंचम ने छू दिया।

और तब उस [illegible] में सान्ध्य-किरणों की अरुण प्रभा से भीनी हुई तुम्हारी तुषार-कान्ति पर रीझकर मैंने तुम्हारा नाम रखा—'पाषाणी।'

"सुन्दरता की तसवीर के लिए कठोरता शीशे का फ्रेम है। फ्रेम के भीतर तसवीर का सौन्दर्य और भी निखर पड़ता है। सुन्दरता के लिए कठोरता मीठे शरबत के लिए बर्फ के समान है। माधुर्य की सबसे आवश्यक सहचरी है शीतलता। तुम्हें 'पाषाणी' कहकर मैंने अपनी श्रद्धांजलि का पहला फूल चढ़ाया, किन्तु तुम···तुम इसे क्या समझो!"

मेरे हृदय में गुदगुदी उमड़ आई। मैं बहुत कुछ कहना चाहती थी, किन्तु कह न सकी। वह कहता गया—"मेरे जीवन में एक नयी अनुभूति आ गई। कोमल भावनाओं के वन-फूल न जाने कहाँ आकर खिल उठे। हृदय में मींड़ बज उठी। मेरे तपस्वी जीवन के शुभ्राकाश पर कला ने सावन के सजल श्यामल मेघ बिखरा दिये। पतझड़ में वसंत आ गया। किन्तु ये स्वप्निल क्षण शबनम के क़तरे थे। एक दिन मेरी उनींदी आँखों पर किसी के संतप्त आँसू चू पड़े। मैं जग उठा।

"आषाढ़ की पहली रात थी। फुहारें पड़ रही थीं। नव वर्षा की शीतल मादकता में तुम अलसायी पड़ी थी। मैं एक भूला हुआ गीत याद कर रहा था। इतने में ही मैं चौंक पड़ा। झोपड़ी रो रही थी। मेरा उससे कभी का परिचय नहीं था, किन्तु उसकी सिसकियों में वेदना स्रोत भरा था। पुरवैया के झोंकों में वह रह-रहकर थरथरा उठती थी। बिजली की चमक में वह भय से सिकुड़-सी जाती थी। पानी के झकोरों

से उसका वक्षस्थल भींग गया था। बूँदे टप-टप भीतर ताड़ की चटाई पर चू रही थीं। झोपडी फूट-फूटकर रो रही थी।

"संसार में सभी के कोई न कोई होता है, किन्तु झोपडी के लिए कोई नहीं था। पृथ्वी पर हरियाली का सन्देश लेकर बरसात की पहली रात आयी थी, फिर भी वह रो रही थी। मैं उसे चुप न करा सका··· सान्त्वना भी नहीं दे सका; केवल डबडबाई हुई आँखों से उसे देखता रह गया।

"वह अपने हृदय में अपने टूटे हुए अरमानों का मज़ार बनाकर आँसुओ के फूल चढ़ा रही थी। फूल और वासों का अस्तित्व लेकर वह इस संसार में आयी थी। जीवन में आघात और उपहास के सिवा उसने और कुछ नही जाना। उसे ईश्वर ने रूप नहीं दिया, ताक़त नहीं दी, ऐश्वर्य नहीं दिया, कोई आकर्षण नहीं दिया; प्रेम से बोलने वाला या करुणा से आँसू पोछने वाला एक भी साथी नहीं दिया, दिया केवल एक उजड़ा हुआ अस्तित्व और जलते हुए अरमान।

"आज उसकी वेदना अजस्र धाराओं में फूटकर बह निकली। उसकी ग़रीबी कराह उठी, उसका उपेक्षित जीवन सिसक पड़ा। और फिर भी कहीं कोई पूछने वाला तक नहीं। समृद्धि और सौन्दर्य के सपनों में उलझी हुई मेरी चेतना को किसी ने मानो झकझोर कर जगा दिया।

"मेरा जीवन अब तक शिथिल समुद्र का एक सोया हुआ लहरा था। उसमें गति थी; किन्तु उछ्वास नहीं था। वह मानो किसी ताल पर एक नियमित रूप से एक अनंत से किसी-दूसरे अनंत की ओर सरकता हुआ चला जा रहा था। किन्तु आज उसके पथ में पत्थर की चट्टानें उभर आयीं। मैं जीवन में पहली बार एक प्रश्न से टकरा गया—'जीवन क्या है?

झोपड़ी के आँसू मेरे हृदय में प्रश्नो की छींटें बनकर फैल गए। मुझे अपने आप से, तुमसे, सारे संसार से विरक्ति-सी हो गई। हमारी

ज्योति किसी के अंधकार का उपहास है, किसी के दुःख की क्रूर अव-हेलना ही हमारा सुख है, किसी के आँसुओं का तिरस्कार ही हमारी मुस्कान है। जहाँ जीवन विभीषिका बनकर खड़ा है, वहाँ सौन्दर्यो-पासना गोधूलि की भैरवी है। संसार दो हृदयों के मिलन को प्रेम कहता है; किन्तु वह तो प्रेम की मंज़िल का प्रारम्भ है। अंत वहाँ है, जहाँ हृदय का सारा स्नेह जेठ के बादल की तरह सूखे हुए पौधों पर बरस पड़ता है।

मैं उसके हृदय के अधिक से-अधिक निकट पहुँचने की कोशिश करने लगा। आश्विन का महीना था। प्रातःकाल था झोपड़ी के ऊपर-नीचे चारों ओर हरसिंगार और कनैल के फूल बिछ-से गए थे। वह अँगड़ा उठी, फूल झड़ पड़े। मैंने विनोद से कहा—"झोपड़ी, जिसकी अँगड़ाई में फूल बरसते हैं, उसकी हँसी में क्या बरसेगा?"

वह लजाकर हँस पड़ी।

उसी दिन आधी रात को शरच्चन्द्र की रजत किरणों में झोपड़ी गुनगुना रही थी। एक युग के बाद आज उसके हृदय की मस्ती जग उठी थी। उसके आत्म-विस्मरण के वे दो-चार क्षण कितने मधुर थे, कितने पवित्र थे! एकाएक वह चुप हो गई। मैंने आत्म-विभोर-सा होकर कहा—"वाह, कितना सुन्दर तुम गाती हो!"

उसने सकुचाकर कहा—"तुम सुन रहे हो क्या?"

"सुन नहीं रहा था, पी रहा था।"

"बड़े चोर हो।"

"चोरी-चोरी गाओ तुम और चोर बनूँ मैं?"

हम दोनों हँस पड़े।

उसके सूने तमोमय जीवन में थोड़ा-सा भी प्रकाश भर देने के लिए मैं बेचैन हो उठा। उसके अकेलेपन में विस्मृति के दो-चार क्षण भी खींच लाने के लिए मैं बड़ा से बड़ा मूल्य देने को तैयार था। किन्तु जन्म

की दुखिया को सुखी कौन बना सकता है ? दीपावली की जगमग ज्योति में कलेजे से अंधकार को सटाकर वह एक बार फिर फूट-फूटकर रो पड़ी।

मैं उसे कौन-सी सान्त्वना देता ? उसका तो जीवन ही आँसुओं का था। पान के पत्तों की तरह अपनी वेदनाओं को आँसुओं से सींचकर वह अपने हृदय में तह करके रखती थी। रोना ही उसका एकमात्र सुख था। जैसे-जैसे दिन बीतते गए, वह क्षीण होती गई। अंत में जिस दिन तुम्हारा ब्याह हुआ, उसी दिन रात को उसने मुझसे क्षीण स्वर में कहा—"मैं तो जा रही हूँ।"

मेरा हृदय भर आया, किन्तु विषाद को छिपाकर मैं बोला—"मेरी प्रतीक्षा करना, जहाँ भी रहोगी, मैं तुमसे मिलूँगा।"

वह बोली कुछ नहीं, सूर्ख-सी मुस्कान उसके होठों पर लोट गई। थोड़ी देर बाद उसका जीवन समाप्त हो गया। वह चली गई।"

लैम्प चुप हो गया। फुहारें बन्द हो गई थीं। मेरा हृदय बरसाती नदी की तरह भावनाओं से उमड़ रहा था। मैंने भरे हुए गले से पूछा—"किन्तु प्रकाश, क्या यह सच है कि तुम जा रहे हो ?"

हँसकर उसने कहा—"मेरा जाना उतना ही निश्चित है, जितना प्रातःकाल में सूर्य का उदय होना।"

"किन्तु...किन्तु..."मेरा गला भर आया।

कुछ चुप रहकर वह बोला—"पाषाणी जीजी, जीवन को समझने की मैंने बहुत चेष्टा की; किन्तु समझ नहीं पाया। यह मेरे लिए और शायद संसार के लिए भी एक अमर प्रश्न है।"

इसका उत्तर मेरे पास नहीं; किन्तु मुझे इतना जान पड़ता है कि जीवन एक कहानी है। उसी की तरह यह शुरू होता है, उसी की तरह यह चलता है और उसी की तरह वह समाप्त हो जाता है। हमलोग

सभी एक बड़े आख्यान के पात्र हैं। विश्व की रचना के साथ ही कहानी का प्रारम्भ हुआ और प्रलय के साथ ही उसका अन्त होगा! कलाकार निर्भय निर्विकार भाव से कहानी कहता चला जा रहा है। हमारे सुख-दुःख उसे छूते तक नहीं। हमारे रोने या हँसने से न तो उसे विषाद होता है और न आह्लाद। वह तो चरित्रों का चित्रण कर रहा है, परिस्थितियों का निर्माण कर रहा है, कथानक की सृष्टि कर रहा है। वैज्ञानिक इसे विकास कह सकते हैं, इतिहासज्ञ इसे ऐतिहासिक प्रकृति-वाद कह सकते हैं। एक के बाद दूसरा आता है, दूसरे के बाद तीसरा। सभी आते हैं और सभी चले जाते हैं, कोई ठहरता नहीं। कहानी चलती जाती है।

विश्व-कलाकार की कला हमें हँसने और रुलाने दोनों में ही अभिव्यक्त होती है। हमारे जीवन के साथ उसकी कला का सम्बंध है। उसे हमारे आँसू या मुस्कान की क्या चिन्ता? उस कलाकार की कला का तकाज़ा ही हमारा प्रारब्ध है। उस कला की पूर्ण अभिव्यक्ति ही विश्व का इतिहास है।

लैम्प चुप हो गया। आकाश में पीलापन फैल रहा था। मेरा उमड़ता हुआ हृदय आँखों में भर आया था। केवल एक ही भावना मन में हिलोरें ले रही थी—आज की रात ही अन्तिम रात है। मैं कुछ बोल नहीं सकी, केवल उसे देखती ही रह गई।

प्रभात होने लगा। क्षितिज पर रंग आ गया। पक्षियों ने करवटें लीं। लैम्प ने सहसा कहा—"जीजी, एक बात और। झोपड़ी ने मरते समय तुम्हें चिर-सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया था। मैं तुमसे कहना भूल गया था।"

मैंने आश्चर्य से सहमकर कहा—"झोपड़ी ने?"

"हाँ, इसका एक कारण था। शायद वह तुम्हें अभी तक मालूम नहीं।"

"क्या ?" मैंने पूछा।

"झोपड़ी तुम्हारे पति की पहली स्त्री थी। तुम उसकी सौत हुई। तुम्हें अपनी छोटी बहन समझकर उसने..."

"क्या इसी से तो नहीं..." मैं इतना ही कहकर रुक गई। तरह-तरह के विचार उठने लगे।

प्रभात हो गया। एक सूखी पीली-सी मुस्कान भरकर लैम्प ने मुझे अंतिम प्रणाम किया—"पापाणी जीजी, मेरे अपराध क्षमा। सुख-दुःख की परवाह न करना। कभी जीवन का रहस्य समझ में आवे, तो यही सोचना, जीवन एक कहानी है। बस, विदा ?"

"प्रकाश चला गया। लोग उसे वहाँ से उसी दिन हटा ले गए और उसके स्थान पर लोहे का एक बड़ा खम्भा आकर खड़ा हो गया। बहुत रोयी; इतना जितना जीवन में कभी नहीं रोयी थी।

"इसके बाद कितने दिन बीते, याद नही आता। युगों ने 'शान्ति-निकेतन' को 'खँडहर' बना दिया। दीवारें गिर पड़ीं। रंग उड़ गया। साँप-बिच्छुओं ने मुझे अपना आवास बना लिया। आँगन में काँटे उग आये। विजनता मेरी सहचरी बन गई और झींगुरों की झनकार मेरा संगीत।

"अब भी मेरा अतीत कभी-कभी स्वप्न बनकर लौट आता है। जगी हुई पलकों के नीचे जीवन की वे अमर घड़ियाँ अब भी घूम जाती है, कितने ही सोये हुए अरमान फिर से करवट ले उठते हैं, कितनी ही व्यथाएँ आज भी मचल पड़ती हैं और जब मेरी पड़ोसिन अट्टालिकाओं के गर्वोन्नत मस्तक पर सान्ध्यदीप झलमला उठते हैं, तो मैं विचारती हूँ क्या यह मेरा अस्तित्व अनंत विश्व-इतिहास के किसी अँधेरे कोने का एक उदास घटनामात्र है ? प्रकाश का कथन आज भी नहीं भूली।

"मैं पूछती हूँ, क्या जीवन सचमुच एक कहानी ही है ?"

सुपथगा

शहर के बाहर सुवर्ण रेखा के किनारे मैंने थोड़ी-सी ज़मीन ख़रीदी थी। एक ओर कंकड़ों में लुढ़कती बहती हुई पतली छिछली-सी नदी थी और दूसरी ओर काले पत्थर के छोटे हल्के उनींदे टीले। ज़मीन नदी की ओर ढालुआँ थी और किनारे पर वृक्षों की सघन साँवली रेखा। भीतर और कुछ नहीं था, केवल एक बहुत बड़ा पुराना बेमरम्मत कुआँ था और उसी से सटा हुआ काले पत्थर का एक स्तूप जिस पर अस्पष्ट अक्षरों में न जाने क्या लिखा था। मैंने उसी के पास एक छोटा-सा बँगला बनवाना शुरू किया और कुएँ की बारिंग कराने के लिए भी आर्डर दे दिया।

जगह सुनसान होने पर भी रमणीक थी। सान्ध्य सूर्य की सुनहली किरणों की आभा सुवर्ण रेखा के जल पर से छलक कर मेरे बँगले की उजली दीवालों पर आ चढ़ती। चाँदनी रात में काले पत्थर के टीले मूर्तिमान रहस्य बनकर चेतना में फैल जाते। पहली रात जब हम लोग वहाँ सोये तो लगा जैसे जाग्रति और सुषुप्ति की पुरानी दुनिया को छोड़ कर किसी अज्ञात कहानियों के लोक में चले आए हैं।

माघ का महीना था। सन्ध्या का समय। आकाश बादलों से मलिन विषण्ण हो रहा था। रसोई घर से धुएँ की कुंडलियाँ निकलकर क्षितिज पर फैल गई थीं। ठंडी हवा टीलों से टकराकर पेड़ों के सघन पत्तों में सायँ-सायँ कर उठी थी। इन्दु की माँ ने मेरे कंधे पर मोटा ओवर कोट डाल दिया, और स्वयं चाय बनाने के लिए स्टोव जलाने लगी। इतने में ही इन्दु ने कहा—"बाबू जी, देखो वह कौन खड़ा है?"

कुएँ की जगत पर पैर रखे पाषाण-प्रतिमा की तरह एक लम्बी छाया-मूर्ति खड़ी थी। मैंने विस्मय से उसकी ओर देखा; किन्तु पहचान न

सका। सन्ध्या के बढ़ते हुए अंधकार में वह छाया के एक स्पष्ट रेखा की तरह ही जान पड़ता था। सन्-सन् करके बहती हुई हवा में फुहारे भर आये थे। इन्दु की माँ ने कहा—"कौन है? इधर बुला लो।"

मैं सोच ही रहा था कि बुलाऊँ या न बुलाऊँ, इतने में स्वयं वह मुझे देखकर चला आया। मैंने देखा, दुबल-पतला, लम्बा आदमी था। लम्बी दाढ़ी और बड़ी बड़ी मूँछे थीं। शरीर पर गेरुए रंग के कपड़े थे। मैंने समझा, पास में सेवाश्रम संघ है, वहीं का कोई सन्यासी होगा। एक तक्ष तक उसने भी मुझे गौर से देखा, फिर नमस्कार करके कहा—"यह ज़मीन आपने ख़रीदी है?"

प्रश्न जितना विचित्र था, उतना ही अनपेक्षित भी। माघ-पूस की बरसाती रात में केवल इतना ही पूछने के लिए कि यह ज़मीन किसने खरीदी है, कोई किसी अपरिचित के यहाँ विरला ही जाता होगा। मैंने सहम कर उत्तर दिया—"जी हाँ।"

जान पड़ा उसकी जिज्ञासा समाप्त हो गई। शायद वह सोच रहा था कि और कुछ पूछे या नहीं। इतने में ही इन्दु एक अपरिचित को देखकर मुझसे सटकर खड़ी हो गई।

उसने कुछ रुककर फिर पूछा—"यह आपकी लड़की है?"

"जी, हाँ।" मेरा कौतूहल बढ़ने लगा। मैं दूसरे प्रश्न की प्रतीक्षा में चुप रहा; किन्तु उसने कुछ पूछा नहीं, चुपचाप निस्तब्ध विचारों में खोया-सा सुवर्ण-रेखा में तिलमिलाती हुई वृक्षों की छाया को देखता खड़ा रहा।

हवा जोर से बह रही थी। मैंने कहा—"अन्दर चले आइए।" उसने उत्तर कुछ नहीं दिया। चुपचाप भीतर चला आया और एक आराम-कुर्सी खींचकर बैठ गया। वह मेरे लिए बिल्कुल अपरिचित था; किन्तु इस ओर उसका ध्यान ही नहीं था। वह मानो अपने ही घर में आराम-कुर्सी पर लेटा हुआ किसी सुदूर अतीत के पन्ने उलट रहा था।

अंत में निस्तब्धता भंग करते हुए मैंने पूछा—"क्या मैं आपका परिचय जान सकता हूँ ?"

वह कुछ चौंक-सा गया, फिर सम्हल कर बैठ गया; बोला—"मेरा परिचय ? कुछ बहुत नहीं है, थोड़ा ही है।"

वह ज़रा रुक गया, फिर बोला—"मेरा नाम है रजनीकांत गुप्त। संक्षेप में लोग मुझे कांतू भी कहते हैं और······"

शायद बिजली गिर पड़ती तब भी मैं उतना स्तंभित नहीं होता। मैंने अत्यन्त विस्मय से पूछा—"क्या आप ही······"

बात काट कर उसने कहा—"जी हाँ, इसी महीने में अंडमान से छूटकर आया हूँ, आपने शायद अखबारों में देखा होगा।"

वह पूर्ववत पैर फैलाकर लेट गया। मैं आश्चर्य-प्रतिहत-सा देखता रह गया। रजनीकांत गुप्त—जिसने आज से बीस वर्ष पूर्व बंगाल से लेकर पंजाब तक क्रान्ति की आग धधका दी थी, जिसके डर से गोरी रमणियों को हिस्टीरिया उभड़ पड़ती थी, क्रान्ति के इतिहास में आज भी जिसका नाम आग के अक्षरों में लिखा हुआ था उग रहा है, मानो और बर्लिन के क्रान्तिकारी भी जिससे युद्ध-कौशल सीखने आते थे वही रजनीकांत गुप्त आज यहाँ···मेरे विस्मय की सीमा न रही। कितनी ही स्मृतियों में उलझा-सा वह एकाएक सतर्क होकर बैठ गया; पूछा—"विश्वास नहीं होता क्या ?"

मैंने कहा—"अविश्वास होने का तो कोई कारण नहीं, फिर भी आश्चर्य होता है।"

इतने में ही इन्दु आ गई; बोली—"बाबू जी, चाय लाऊँ ?"

मैंने कहा—"हाँ, दो कप लाओ।"

रजनी बाबू ने बीच में ही टोक कर कहा—"मेरे लिए चाय की जरूरत नहीं, अगर एक गिलास ठंडा पानी मँगवा सकें तो......"

"इस वक्त ठंडा पानी ?" मैंने आश्चर्य से कहा।

"जी हाँ, मैं ठंडे पानी के सिवाय और कुछ नहीं पीता।"

दो गिलास ठंडा पानी पीकर कुर्सी पर से उठते हुए रजनी बाबू ने कहा—"यह ज़मीन आपने खरीद ली, यह जानकर मुझे खुशी हुई। इस जमीन के साथ मेरा घनिष्ट सम्बंध है, कभी समय मिलेगा तब कहूँगा।"

मैंने कहा—"यह आपका ही घर है, जब इच्छा हो, पधारियेगा।"

"अभी तो नहीं कुछ दिन बाद शायद दर्शन कर सकूँ" कहकर रजनी बाबू चलने के लिए तैयार हो गए। अँधेरा हो गया था, बूँदे पड़ रही थी। मैंने एक टार्च और एक छाता देना चाहा, किन्तु उन्होंने हँसकर अस्वीकार कर दिया और फिर रात्रि के उस गहन अंधकार में न जाने कहाँ विलीन हो गए।

दो-तीन दिन बाद मैंने अख़बारों में पढ़ा कि—नगर में कैदियों पर जो गोली चली थी उसके प्रतिवाद में रजनी बाबू आमरण अनशन व्रत कर रहे हैं। अख़बारो में सनसनी फैल गई। देश-विदेश से सहानुभूति के तार आने लगे। बड़े-बड़े नेताओं ने बीच बचाव करना शुरू किया और अंत में लोकमत के सामने सरकार को झुकना पड़ा। जिस अंगरेज अफ़-सर के हुक्म से गोली चली थी वह गिरफ्तार कर लिया और इस दुर्घ-टना की जाँच-पड़ताल करने के लिए सरकार ने एक कमेटी बनायी। रजनी बाबू का व्रत सफल हुआ। उन्होंने अनशन तोड़ दिया।

हम लोगों के बार असोसिएशन के प्रेसिसेण्ड मधुकर बाबू ने सिगार का बहुत-सा धुआँ निगलकर खाँसते हुए पूछा—"यह रजनीकांत गुप्त है कौन ? वही राज स्थान जहाज़ के मामलेवाला तो नहीं, जिसने..."

"आप रजनीकांत का नाम भूल गए जिसने जहाज़ कप्तान पर गोली चलायी थी...वही छोटा नागपुर षड्यंत्रवाला ! अभी हाल ही में तो अंडमान से छूटकर आया है।" हम लोगो के एक नये बैरिस्टर मित्र ने कहा।

"किन्तु वह तो क्रान्तिकारी था, अहिंसावादी कब से हो गया ?"—एक दूसरे मित्र ने पूछा ।

मधुकर बाबू किंचित् मुस्करा कर बोले—"क्रान्ति दायित्वहीन जवानी की एक अल्हड़ भूल है। यह जिन्दगी में आँधी तरह आती और बादल की यरह बरस कर निकल जाती है, टिक नहीं पाती। इसमें तो..."

आक्षेप बैरिस्टर साहब पर था। इंगलैंड में जब उन्हें सिविल सर्विस की प्रतियोगिता में भाग लेने की अनुमति सरकार से नहीं मिली, तब वे मिडिल टेम्पल से बैरिस्टरी की डिग्री लेकर लौट आए। तभी लोगों को उनके क्रान्तिकारी विचारों के होने का संदेह था। बात काटकर उन्होंने कहा—"मधु बाबू, क्रान्ति का जवानी से कोई सम्बंध नहीं। यदि कुछ सम्बंध है तो केवल इतना ही कि क्रान्ति के लिए शक्ति की आवश्यकता है और जवानी अदम्य शक्ति का एक अमर स्रोत है। जवानी जीवन की एक जागृत घड़ी है, जिस समय अन्तरात्मा के तार युग और देश के अनंत विस्तार में उड़कर आते हुए हल्के-से हल्के संदेश की लहर से भी झंकृत हो उठते हैं। जवानी में जागृति है और जागृति में अनुभूति और क्रान्ति बिना अनुभूति के हो ही नहीं सकती। दोनों में यदि कोई सम्बंध है तो इतना ही।"

सिगरेट फेंक कर मधुकर बाबू ने कहा—"जिस सम्बंध को आप कुछ नहीं समझते, वह आपकी ही व्याख्या के अनुसार कार्य कारण सम्बंध हो गया। यह तो Contradiction in terms (परस्पर विरोध) हुआ।"

"कभी नहीं", बैरिस्टर साहब ने आवेश के साथ कहा—"यह सम्बंध कार्य और कारण का नहीं, लक्ष्य और साधन का हुआ। कार्य और कारण का सम्बंध तो अविच्छेद्य, अपरिवर्तनीय है। कारण के बदलने से कार्य भी बदल जायेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि कारण बदल जाय और कार्य वही रहे; किन्तु लक्ष्य और साधन का सम्बंध ऐसा नहीं है। एक ही लक्ष्य के अनेक साधन हो सकते हैं। साधन बदलने से लक्ष्य भी बदलना

पड़े, यह कोई जरूरी नहीं है। जवानी भी क्रान्ति का केवल साधन है, कारण नहीं।"

"आपके कहने का अभिप्राय क्या हुआ ?"—एक दूसरे सज्जन ने पूछा।

"यहाँ की क्रान्ति का सम्बंध केवल जवानी की शक्ति से है, उनकी अनुभवहीनता से नहीं। यदि जवानी उसका कारण होती तो समवायि या असमवायि रूप उसकी बुराइयाँ भी उसमें शामिल रहती ही। किन्तु वह केवल क्रान्ति का साधन है, इसीलिए क्रान्ति केवल उसकी अच्छाइयों को ही लेकर चलती है। लक्ष्य और साधन के सम्बंध में यह नियम होना जरूरी है।"

मधु बाबू ने कहा—"मान लिया कि जवानी क्रान्ति का साधन ही है, कारण नहीं, फिर भी इतना तो आप मानेंगे ही कि अन्ततोगत्वा जवानी उच्छृंखलता, अनुभवहीनता और उद्धतता की छाप उस पर पड़ ही जाती है। प्रारम्भ चाहे जो भी हो अंत तो वही होता है—विशृंखलता, विक्षेप, विनाश।"

"यहाँ भी आप भूलते हैं", बैरिस्टर साहब ने ज़ोर से हाथ पटकते हुए कहा—"जिसे आप जवानी की छाप समझते हैं, वास्तव में वह क्रान्ति का अभ्यन्तर गुण ही है। एक प्रसिद्ध लेखक की कहानी मैंने पढ़ी थी। उसने लिखा था कि क्रान्ति आन्दोलन, सुधार, परिवर्तन कुछ नहीं है। क्रान्ति है विश्वासों का, रूढ़ियों का, शासन का और विचार-प्रणालियों का घातक, विनाशकारी भयंकर विस्फोट। इसका न आदर्श है, न ध्येय, न धुर। क्रान्ति विपथगा है, विध्वंसिनी है, विदग्धकारिणी है। यदि युवकों के बदले बच्चे या बूढ़े क्रान्ति करें तब भी उसका स्वरूप वही होगा—प्रलयंकर, अनियंत्रित, विस्फोटकारी। किन्तु बच्चे तो बच्चे ही हैं और बुढ़ापा एक पछतावा मात्र है—जीवन की शक्ति की सँभाई हुई चिन्ता। इसलिए जवानी का रक्त पीकर ही क्रान्ति

पनपती है। किन्तु यह तो केवल एक आकस्मिक घटना (Accident) हुआ।"

मधुकर बाबू एक मुवक्किल का कागज देखने लगे। एक दूसरे मित्र ने कहा—"फिर भी देखा जाता है कि क्रान्ति को भावना थाइसिस के कीटाणुओं की तरह बूढ़ों से अधिक जवानों को ही अपना शिकार बनाती है और दूसरी बात यह कि जवानी मे जो इसके शिकार बन जाते हैं, वे बुढ़ापा आते-आते इसके चंगुल से निकल भी भागते हैं। जवानी और क्रान्ति मे परस्पर जो भी सम्बन्ध हो, बुढ़ापा तो निश्चय करके इसका औषध (Antidote) है। रजनीकान्त गुप्त इसके एक प्रमाण हुए और हमारे बैरिस्टर साहब दूसरे, क्यों है न··?"

हम सभी लोग हँस पड़े। बैरिस्टर साहब ने उत्तेजित होकर कहा—"मै रजनीकात गुप्त को जानता हूँ। उसके विषय मे बहुत कुछ सुन चुका हूँ। मास्को, बर्लिन और पेरिस मे आज भी वह कातू नाम से प्रसिद्ध है। उसने विदेशों मे भारत का नाम ऊँचा किया है। मेरा विश्वास है कि उसकी यह अहिंसा-प्रवृत्ति उसकी शक्तियों के ह्रास का नहीं, उसकी दूसरी स्वतंत्र भावनाओं के विकास का फल है। शायद आप लोग नहीं जानते होंगे, गिरफ्तार होने के बाद उसने अपना जो वक्तव्य निकाला था, वह किसी भी साहित्य की ऊँची से ऊँची श्रेणी मे रखा जा सकता है।"

बार लाइब्रेरी के उस कानूनी वातावरण मे, रजनीकात गुप्त ने बीस वर्ष पहले क्रान्ति के ऊपर कैसा साहित्यिक या दार्शनिक वक्तव्य, निकाला था यह जानने को किसी की उत्सुकता ही नहीं हुई। बैरिस्टर साहब अखबार उठाकर देखने लगे। मै माघ की बरसाती रात की बाते याद करता बहुत देर तक वहीं बैठा रहा।

इसके बाद बहुत दिन बीत गए। ठीक याद नहीं आता, कौन-सा महीना था—शायद चैत रहा होगा। इन्दु की माँ बच्चों को लेकर मायके गई थी। घर सूना पड़ा था। सबेरे पलग पर बैठा मैं कुछ लिख

रहा था। इतने में ही कमरे में कोई चला आया। पहले तो पहचान ही नहीं सका, पीछे पहचाना। रजनी बाबू थे। दाढ़ी-मूँछ सफाचट थी। गेरुआ वस्त्र भी नहीं था—खादी का सफेद कुरता, धोती और चप्पल। मैंने बड़े आदर-भाव से नमस्कार करके उन्हें बिठाया। रजनी बाबू ने बिना किसी भूमिका के ही कहा—"इस बार आपका आतिथ्य ग्रहण करने आया हूँ।"

मैंने हाथ जोड़कर कहा—"मेरा अहोभाग्य।"

उस दिन मैं कचहरी से सबेरे ही लौट आया। दूसरे दिन छुट्टी थी। सारे रात और दिन मैं बड़ी देर तक उनसे बातें करता रहा। भारत में सोयाबीन की खेती से लेकर योरुप में साम्यवाद और तानाशाही के संघर्ष तक अनेक विषयों पर बातें हुई, किन्तु वह प्रधान विषय जिसमें मेरी असीम जिज्ञासा थी, अछूता ही रह गया। जान पड़ता था रजनी बाबू जान-बूझकर उसे बचा रहे थे। मेरे जी में कितनी बार आया—पूछूँ-पूछूँ; किन्तु पूछ नहीं सका। चारों ओर से घूम-फिरकर उसी विषय के पास—एकदम पास—हम लोग पहुँच जाते थे और फिर रास्ता काटकर दूसरी ओर निकल जाते। दोनों ही समझ रहे थे, किन्तु दोनों ही चुप थे।

और दो दिनों तक यही सिलसिला रहा। तीसरे दिन शाम को हम लोग कुएँ के पास बैठे थे। किसी पतनोन्मुखी साम्राज्यवादी राष्ट्र की तरह सान्ध्य-सूर्य आकाश में सुनहले बादलों का असीम वैभव बिखराकर असहाय-सा अवसान के ढालुए पर खिसकता चला जा रहा था। सुवर्ण-रेखा के ढालुए पथ पर फैला हुआ वृक्षों का छाया-जल रह-रहकर सिहर उठता। रजनी बाबू कुछ चुप से थे। उनकी आँखों में अतीत भर आया था, स्मृतियों की छाया से लदा हुआ उनका शान्त, सौम्य मुख-मंडल सावन का प्रभात हो रहा था। सामने के वृक्षों पर कौवे काँव-काँव कर रहे थे। इन्दु की पूसी घासों में अधलेटी-सी अपने बच्चों को दूध पिला रही थी। सामने रेलवे लाइन पर अजगर-सी लम्बी एक

मालगाड़ी भक-भक करती चली गई। मैं एक दूब उखाड़कर उसे दाँतों से खूँटता हुआ न जाने क्या सोच रहा था। इतने में ही रजनी बाबू बोले—वर्मा जी आपको स्मरण होगा, मैंने कभी आपसे कहा था कि इस ज़मीन के साथ मेरा पुराना और घनिष्ट सम्बंध है···"

हाँ, कहा तो था आपने", मैंने उत्सुकता के साथ कहा—"और इस विषय में आपसे अधिक कुछ पूछने की मेरी इच्छा भी हुई थी, किन्तु······"

बात काटकर रजनी बाबू स्वप्न में खोये हुए-से बोले—"इस जमीन के साथ मेरा जो सम्बंध है, उसके विषय में याद नहीं आता, मैंने कभी किसी से कुछ कहा हो। आज आपसे कहने की इच्छा होती है, इसलिए कि आप इसके स्वामी हैं और मुझे जो कुछ ममता इसके लिए है उसका कारण आप यदि जान लें, तो···"

मैंने बीच में ही रोककर कहा—"आपका इसके साथ सम्बंध है, यह जानने के लिए मैं तभी से उत्सुक था, जबकि आपने कहा था; किन्तु मैं पूछ न सका। मुझे डर था कि······"

रजनी बाबू कुछ ठहरकर बोले—"आपने शायद सुना होगा कि जवानी के दिनों में मैं क्रान्ति के समर्थकों में से था और आज से सत्रह साल पहले इसी अपराध के लिए मुझे आजन्म कालापानी की सजा भी मिली थी। यह बात बहुत अंशों में सच्ची थी, किन्तु······" रजनी बाबू ज़रा रुक गए।

मैंने कहा—"जिसे सारा योरुप जानता है, उसे यह कैसे सम्भव है, मैं ही न जानूँ? आपका नाम तो भारत के राजनीतिक इतिहास की एक अमर सम्पत्ति है!"

अन्यमनस्क की तरह उन्होंने कहा—"इतिहासों में जो बातें छपती हैं वे सम्पूर्णतः सच ही नहीं होतीं। प्रायः घटनाओं का व्यक्तीकरण ही इतिहास-लेखक का ध्येय होता है। संसार में विख्यात होने का एक

बहुत बड़ा दण्ड है अज्ञात हो जाना। किसी को जानना एक बात है और समझना दूसरी बात। मेरा अपना अनुभव है कि······खैर, अभी छोड़िए इन बातों को। मैं यह कह रहा था कि मेरे विषय में जितनी अफवाहें उड़ती थीं, उनका एक बहुत बड़ा अंश निराधार ही था। मैं स्वयं सक्रिय क्रान्तिकारी भी नहीं था। क्रान्ति पर मेरा विश्वास भी पूर्ण रूप से कभी नहीं हुआ। फिर भी मैं क्रान्ति का दार्शनिक और ऐतिहासिक अध्ययन कर रहा था और मेरा सम्बंध एक ऐसे व्यक्ति के साथ था जिसके समान प्रतिभाशाली क्रान्तिकारी बहुत दिनों तक बहुत से देशों में ढूँढ़ने पर भी आज तक मैं नहीं पा सका और यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि वह व्यक्ति एक स्त्री थी।"

कुतूहल के अतिरेक से मैं जरा और पास खिसक गया। रजनी बाबू कहने लगे—"पचीस वर्ष की अवस्था में म्यूनिक यूनिवर्सिटी से पी-एच० डी० की डिग्री लेकर जब मैं स्वदेश लौटा, उस समय मेरी नसों में स्वातंत्र्य-संग्राम की भावनाओं से उबलता हुआ गरम खून दौड़ रहा था। थोड़े दिनों तक उत्तर प्रदेश के एक प्रसिद्ध कालेज में मैं इतिहास का अध्यापक रहा; किन्तु उस निष्क्रिय जीवन से मेरी आत्मा को सन्तोष नहीं हुआ और मैं कालेज से इस्तीफ़ा देकर स्वतंत्र रूप से काशी में एक पत्र का सम्पादन करने लगा। रुपये-पैसे की कमी न थी। पिता जी एक बड़े स्टेट के दीवान थे। विवाह की बातें चलने लगीं और अंत में काशी के एक नामी बैरिस्टर की लड़की से मेरा विवाह होना निश्चित हुआ। लड़की उसी साल एम० एस-सी० की परीक्षा देने वाली थी। परीक्षा के केवल तीन महीने बाकी थे, इसलिए विवाह कुछ दिनों के लिए स्थगित रखा गया। फिर भी सारी बातें तै हो गईं।

माघ का महीना था। मिर्जापुर में एक दुर्घटना हो गई थी। खबर थी कि मिर्जापुर के योरोपियन क्लब के सामने कुछ स्कूली लड़के खेल रहे थे। इतने में ही सामने एक अंग्रेज की कार दिखलायी पड़ी। लड़कों को जो शरारत सूझी, तो गेट के सामने एक लाइन में खड़े हो गए।

साहब ने हार्न दिया; लेकिन लड़के हटे नहीं। लाचार उन्हें मोटर रोकनी पड़ी। साहब ने उतर कर लड़कों को गालियाँ दीं, तो लड़कों ने कसकर वन्देमातरम् के नारे लगाये। साहब शराब के नशे में था। उसने क्रोध में हण्टर चलाना शुरू किया। हण्टर की मार के सामने कौन टिकता? सभी लड़के भाग चले, केवल एक चोट खाकर गिर पड़ा। साहब तो नशे में चूर हो रहा था और उस पर मानहानि का क्रोध, लड़के को तड़ातड़ पीटता गया। लड़का बेहोश हो गया; किन्तु फिर भी उसका क्रोध शांत नहीं हुआ। उसने उस बेहोश लड़के को उठाकर पास के एक पेड़ की जड़ में दे मारा। जो एक-आध लड़के इधर-उधर लुक-छिपकर देख रहे थे, उनका कहना था कि पेड़ पर पटकते ही लड़के का सिर फट गया और उसमें से खून बह निकला। खून देखते ही साहब का नशा हिरन हो गया। जल्दी से उसने उसे उठाया और कार के अन्दर लिए चला गया। इधर लड़कों ने हल्ला मचाना शुरू किया; किन्तु जब तक लोग वहाँ पहुँचें, तब तक वह उसे लेकर मोटर पर नौ-दो ग्यारह हो गया। फिर उस लड़के का पता नहीं चला। वह मरा या जिया, कुछ खबर नहीं मिली। अंग्रेज का मामला था। पुलिस भी बगलें झाँकने लगी। मामला बहुत संगीन था। ऐसी कितनी ही दुर्घटनाएँ हाल में हो चुकी थीं। मैंने बड़े-बड़े अक्षरों में उस घटना का शीर्षक दिया, और अपने सम्पादकीय अग्रलेख में शराबखोर अंग्रेज पर और साथ ही पुलिस पर कड़ा आक्षेप किया। इस घटना को लेकर टाऊनहाल में सभा हुई, प्रस्ताव पास किये गए और सरकार से तक़ाज़ा किया गया कि वह इस मामले की पूरी तहक़ीकात करें।"

"वह साहब कौन था?"—मैंने पूछा।

"ग़नीमत यही थी कि वह कोई अफ़सर नहीं था। वह किसी कारखाने का मैनेजर था। फिर भी अंग्रेज तो था ही। बड़ी सनसनी फैली—विशेषकर मेरे सम्पादकीय ने घोर हलचल मचा दी। कई दिन बाद संध्या समय डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने मुझे बुलाया। जब मैं बंगले पर

पहुँचा तो देखा वह मेरा लेख पढ़ रहा था। लेख समाप्त करके उसने कहा—रजनी बाबू, आपकी शैली तो बड़ी ओजस्विनी है; किन्तु इसका क्या परिणाम होगा यह भी आपने सोचा है ?"

मैंने कहा—"जिस परिणाम के लिए इसे मैंने लिखा है, यदि वह हो जाय, तो मैं अपनी शैली को धन्य समझूँगा।"

"कौन-सा परिणाम आपने सोच रखा है ?"—उसने पूछा।

देश में जागृति और अपने अधिकारों की रक्षा करने की प्रवृत्ति।

किन्तु इस जागृति के बदले क्रान्ति और स्वाधिकार रक्षा के बदले प्रतिहिंसा की प्रवृत्ति भी तो हो सकती है ?

मेरे जी में आया, कहूँ कि वह तो और भी अच्छा होगा; किन्तु शिष्टता के ख्याल से अपने को रोक लिया।

कलक्टर कहा—"पत्रकार का देश के प्रति बहुत बड़ा दायित्व है, इसे आपको नहीं भूलना चाहिए। देश की शांति-रक्षा की व्यवस्था करने में सरकार आप लोगों से बहुत सहयोग की आशा रखती है।"

उसकी बातों पर गौर करता हुआ बहुत देर से मैं घर लौटा, आफिस में घुसते ही देखा, मेरे एक सहकारी सम्पादक एक लम्बा-चौड़ा तार लिए एक नोट तैयार कर रहे हैं। तार पढ़ते ही मैं सन्न रह गया। पत्र के विशेष सम्वाददाता ने तार भेजा था। उसमें लिखा था कि उसी रात को वह साहब अपने ड्राइंग रूम में मरा पाया गया। हत्याकारी का पता नहीं था, पुलिस संधान कर रही थी। शहर में बड़ी सनसनी फैली थी। तार पढ़कर संज्ञाहीन-सा मैं कुर्सी पर धम से बैठ गया। इस दूसरी हत्या का उत्तरदायित्व क्या सचमुच मेरे ऊपर भी था ? और यदि था तो कहाँ तक ?

इस घटना से मुझे बड़ा आघात पहुँचा। क्रान्ति के सिद्धान्तों का कायल होते हुए भी मैं संस्कार से अहिंसावादी था। उस साहब की जघन्य बर्बरता का जो शब्द-चित्र मैंने खींचा था और उपसंहार में अपने देश

के नवयुवकों की उदासीन और कादर मनोवृत्ति पर जो जलते हुए आक्षेप किये थे उसमें प्रतिहिंसा की चिनगारियाँ प्रकट रूप से धधक रही थी। मेरे शब्दों में एक सुलगते हुए हृदय के भीतर की घुमड़ती हुई वेदना की असीम धूम्र-राशि भरी हुई थी। फिर भी···फिर भी इस प्रति-हिंसा के लिए अभी मैं तैयार नहीं था। इस हत्याकाण्ड में नैतिक रूप से मेरा कुछ भी उत्तरादायित्व हो सकता है, इस भावना से मैं सिहर उठा। मेरी आत्मा को मानो रोमांच हो आया।

उसके दूसरे दिन शाम को मैं अपने आफ़िस में ही बैठा कुछ लिख रहा था। वर्षा की संभावना थी। बादलों के कारण संध्या मानो जीवन में ही अधेड़ हो चली थी। बाहर से ठंडी हवा आ रही थी। मैंने सोचा, उठकर दरवाज़ा बन्द कर दूँ। इतने में ही देखा, छाता लगाये बरसाती पहिने दरवाजे पर कोई खड़ा है। उसने आते ही पूछा—"रजनीकान्त गुप्त क्या आप ही का नाम है?"

"जी हाँ"—मैंने कहा।

एक बार बड़े गौर से देखकर उसने मुझे पत्र दिया। मैंने देखा पत्र कुसुम—मेरी वाग्दत्ता पत्नी का था। कुसुम बराबर मुझे पत्र लिखा करती थी, इसलिए आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। फिर भी कुतूहल हुआ। मैंने पत्र पढ़ा। उसमें केवल इतना ही लिखा था कि एक घंटे के भीतर विक्टोरिया पार्क में मुझसे मुलाकात करो। पत्र में बड़ी ताक़ीद थी। मुझे बड़ा विस्मय हुआ। कहाँ तो वह अनुनय-विनय करने पर भी इस तरह मिलने को राजी नहीं होती और कहाँ आज इस बरसाती रात में इतनी ताकीद करके बुला रही है! ऐसी कौन-सी आवश्यकता हो सकती है? पत्र वाहक से मैंने पूछना चाहा; किन्तु वह तो मानो कुछ जानता ही नहीं था। मैंने अंत में कहा—"अच्छा, तुम चलो मैं आता हूँ।"

एक घंटे के भीतर मैं मोटर से पार्क में पहुँचा। वहाँ जाकर देखा,

कुसुम का कोई पता नहीं। थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करके मैं लौटना ही चाहता था कि एक दूसरी मोटर पहुँची और उसमें से कुसुम उतरी।

पार्क में बिजली के खम्भे के सामने बेंच पर कुसुम को बिठाकर मैंने पूछा—"ऐसी कौन-सी बात आ पड़ी जो आज तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा-भंग करनी पड़ी? तुमने तो इम्तहान के पहले न मिलने की ही प्रतिज्ञा करली थी?"

कुसुम कुछ बोलना चाहती थी, किन्तु बोल न सकी। उसकी आँखें एक विचित्र ज्योति से प्रदीप्त हो रही थी। आवेश से काँपते हुए होठों को बड़े यत्न से उसने दबा रखा था।

मैं कुछ पूछ नहीं सका, उसका हाथ अपने हाथों में लेकर उसे देखता ही रह गया।

भर्राए हुए स्वर में उसने कहा—"मैंने किसलिए आज तुम्हें यहाँ बुलाया है, इसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। आज एक बड़े दायित्व का काम तुम्हें सुपुर्द करने आई हूँ।"

आज यह कैसी विचित्र बाते कर रही है? यह वही कुसुम है या दूसरी कोई? मैं उत्तर न देकर स्तम्भित-सा उसे देखता रहा।

उसने मेरा हाथ जोर से दबाकर कहा—"प्रतिज्ञा करो—मेरे सिर पर हाथ रखकर प्रतिज्ञा करो कि तुम आमरण मेरा साथ दोगे, और... और..."

मैंने उसे रोककर कहा—"कुसुम, इसमें भी तुम्हें कोई संदेह है कि..."

उसने जल्दी से कहा—"यदि तनिक भी संदेह रहता, तो यह काम तुम्हें सौंपने न आती। फिर भी-फिर भी प्रतिज्ञा करो। यह जीवन-मरण का प्रश्न है, एक राष्ट्रीय महत्व का सवाल है। मैं क्या कह रही हूँ, सुनते नहीं? प्रतिज्ञा करो..."

आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों से उसे देखते हुए मैंने पूछा—"क्या प्रतिज्ञा करनी होगी?"

कुसुम ज़रा सहम गयी; फिर बोली—मैं तुम्हारे ऊपर दबाव डालना नहीं चाहती। अब भी समय है। तुम चाहो तो प्रतिज्ञा नहीं भी कर सकते हो; किन्तु फिर.........”

मैंने दृढ़ स्वर में कहा—“प्रतिज्ञा क्या करनी होगी, मैं यह जानना चाहता हूँ।”

शंकित नेत्रों से मुझे देखते हुए सहम कर उसने कहा—“यही कि... कि...तुम आमरण मेरा साथ दोगे...किन्तु ठहरो, ज़रा एक बात और सुन लो।”

“और दूसरी बात क्या ?”

“मैं जानती हूँ कि जिस पथ पर मैं जा रही हूँ, वही मेरे लिए सच्चा पथ है। उसमें मेरी आत्मा की पूर्ण सहानुभूति है, किन्तु तुम्हारी आत्मा भी उसे उसी रूप में ग्रहण करेगी यह मैं नहीं जानती; इसलिए...... इसलिए......”

मैंने बात काट कर कहा—“कुसुम, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि......”

बीच में ही झपटकर उसने मेरा मुँह बन्द कर दिया; बोली—“जल्दी न करो, एक बात और सुन लो। तुम नहीं जानते इस प्रतिज्ञा का अर्थ क्या होगा। हो सकता है कि मैं संसार की दृष्टि में अपराधिनी, पथ-भ्रष्टा, विपथगा......”

मैंने उसे रोक कर कहा—“मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम चाहे जिस पथ पर भी रहो, मैं आमरण तुम्हारा साथ दूँगा। तुम्हारी इच्छा ही मेरा कर्तव्य होगा। बस, इतना ही या और अधिक ?”

कुसुम चुप हो गई। वाणी का वेग रुककर मानो उसके हृदय के स्पन्दन का वेग बन गया। पास के गिरजे में आठ का घंटा बजा। पार्क धीरे-धीरे खाली हो रहा था। कुसुम ने शांत गम्भीर स्वर में कहा—“मिर्ज़ापुर में जिस अंग्रेज की हत्या हुई है, उसका हत्याकारी है कुमुद—मेरा छोटा भाई, और हत्या की सारी योजना बनाने वाली हूँ मैं।”

मैं चौंक पड़ा। फिर भी मुझे लगा कि जितना आश्चर्य मुझे होना चाहिए, उतना नहीं हुआ। कुसुम कुछ ठहरकर बोली—"और जिस लड़के की हत्या हुई थी, तुम नहीं जानते होगे.. वह मेरी एक सखी का एक-लौता लड़का था। लड़के की लाश ईंट बनाने वाली एक चिमनी डाल-कर जला दी गई। यह बात मुझे एक विश्वस्त सूत्र से मालूम हुई। वहाँ के कलक्टर, सुपरिण्टेण्डेंट सभी अंगरेज हैं। यह घटना योरोपीयन क्लब के अन्दर हुई थी, इसलिए इसमें सबकी बदनामी थी और सभी ने इसे मिलकर दबाना चाहा। पुलिस ने तहक़ीक़ात करने के बदले धमकियाँ देनी शुरू की। जो लोग चश्मदीद गवाह थे, वे भी डर गये। मामला बिल्कुल दबा दिया गया। अंत में जब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि न्याय होना सम्भव नहीं, तो......"

"लेकिन तुमने यह समझने में इतनी जल्दी क्यों की?"—मैंने पूछा।

"मैंने जल्दी नहीं की"—कुसुम ने कहा—"किन्तु मुझे विश्वस्त रूप से यह पता लगा कि वह दो दिन के भीतर ही भागकर अमेरिका जाने वाला है। ऐसी अवस्था में उसे दण्ड देने का यही एक मात्र उपाय था। क्या यह भी तुम्हें समझाना होगा?"

"अच्छा फिर?"

"हत्या का षड़यंत्र किस तरह रचा गया, इसका विस्तार फिर कभी सुन लेना। अभी काम की बात सुनो। बड़ी मुश्किलों से कुमुद को मैं बनारस ला सकी हूँ। पुलिस को अभी तक कोई निश्चित सूत्र नहीं मिला है, फिर भी उसे संदेह बिल्कुल नहीं है, ऐसा मैं नहीं कह सकती। बाबू-जी इस मामले से कतई अनभिज्ञ हैं। बहुत शीघ्र कुमुद को ऐसी जगह पहुँचना है, जहाँ वह सुरक्षित रह सके। इसका भार तुम्हारे ऊपर है और......

बिजली के खम्भे की ओर देखता हुआ मैं गम्भीर चिन्ता में डूब गया।

इसके बाद जो बातें हुईं वे कार्य-व्यवस्था की थीं। उसी रात को मैं कुमुद को मोटर से ढाई सौ मील की दूरी पर एक सुरक्षित स्थान पर छोड़ आया। मेरे जीवन का हिंसात्मक आन्दोलन के साथ यह पहला सम्बंध हुआ।

चाँदनी छिटक रही थी। सुवर्ण-रेखा में बोरों से लदी हुई एक बड़ी पालवाली नाव चली जा रही थी। दो-तीन मल्लाह स्वर में स्वर मिलाकर कोई विरह का राग गाते जा रहे थे। नाव दूर निकल गई। टीलों में टकराता हुआ स्वर दिशाओं में बिखर गया।

रजनी बाबू कहने लगे—"इसके दो-तीनमहीने बाद जेनेवा की अन्तर्राष्ट्रीय ऐतिहासिक परिषद से निमंत्रण पाकर मैं स्विट्जरलैण्ड चला गया और वहाँ से सारा योरुप घूमता हुआ, बहुत-से राजनीतिक तथा आर्थिक विषयों का अध्ययन करता हुआ एक वर्ष बाद स्वदेश लौटा। इस सम्बंध में मुझे रूस, जर्मनी, फ्रांस आदि देशों में भरपूर भ्रमण करना पड़ा। कितने नये परिचय भी प्राप्त हुए।

लन्दन के एक छोटे-से होटल में लेनिन के साथ लगातार तेरह बाजी शतरंज खेलने का मौका मिला। पेट्रोग्रेड में अकस्मात् अमेरिका के कु-क्लक्स-क्लैन (Ku-Klux-Klan) के अन्यतम सदस्य सिमन्स और क्लार्क से एक पावरोटी की दुकान पर परिचय हुआ। इसी तरह ब्रुसेल्स में प्रिंस क्रोपाटकिन की एक भतीजी के साथ एक महीने तक एक ही मकान में रहने का अवसर मिला। उसके ज़रिए रूस के बहुत-से क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ताओं से घनिष्टता हो गई। बहुत घूम फिर कर और बहुत कुछ अध्ययन कर मैं एक वर्ष बाद भारत लौटा। यहाँ दो ही मुख्य घटनाएँ तब तक हुई थीं—कुसुम के पिता का देहान्त हो गया था और कुसुम एम० एस-सी० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास कर यूनिवर्सीटी में रिसर्च स्कॉलर हो गई थी।

वह चाँदनी रात आज भी मेरे स्मृति-पटल पर बिछी हुई-सी है, जब कुसुम ने मुझे अपने घर खाने का निमंत्रण देकर अपने हाथ से रोटियाँ

सेंककर खिलायी थीं। चाँदनी में बड़ी रात तक अपनी छत पर बैठे हम दोनों बातें करते रहे और मेरे इस उदास एकाकी जीवन-पथ का उसी दिन मानो निर्माण हुआ।

जीवन में पहली बार उस दिन मैंने कुसुम के वास्तविक स्वरूप की एक झाँकी पायी। मैंने पहली बार अनुभव किया कि वह कितनी सरल थी और साथ कितनी अज्ञेय, हिममंडित शैल-शिखर शुभ्र तुषार-हास की तरह वह कैसी स्वच्छ उन्मुक्त थी और सागर की नील जल-राशि की तरह साथ ही कितनी गहन गम्भीर।

संसार को दिखाने के लिए कुसुम रिसर्च स्कॉलर थी, किन्तु उस सघन रहस्य के आवरण में उसके जीवन का जो महान तेजोमय स्वरूप छिपा हुआ था, उसकी तुलना में उसका प्रत्यक्ष सांसारिक जीवन एक झिल-मिलाते हुए गगन की झीनी झलक के बराबर भी नहीं था। दो साल के भीतर कुसुम ने भारत के पाँच प्रमुख प्रांतों में क्रान्ति मंडल की स्थापना कर दी। क्रान्ति-मण्डल की सबसे ऊँची समिति के पाँच सदस्यों में एक वह भी थी। उसके दल के तीन हज़ार स्त्री-पुरुषों के लिए उसकी आज्ञा ही कानून थी और उसकी वाणी अक्षय भंडार का अमर स्रोत। वह सारे मण्डल की प्राण थी, प्रोटोप्लाज़्म। उनका तर्क भी वही थी, कार्य-शक्ति भी वही थी और बलिदान-व्रत भी वही। जान पड़ता था उसका व्यक्तित्व किरणों में फूटकर उन हज़ारों आत्माओं में बिखर गया था। उसकी असीम शक्ति देखकर विश्वास को भी अविश्वास हो जाता और आश्चर्य भी सिहर उठता।

इतने दिनों के भीतर कितनी राजनीतिक हत्याएँ हुईं, कितने लोग फाँसी पड़े, कितने बम फेंके गए, कितनी लूट-पाट हुई और कितने काला पानी भेजे गए, इसकी सूची न देकर केवल मैं संक्षेप यही कहूँगा कि इस थोड़े समय में ही चारों ओर इतना आतंक फैल गया कि सरकार को एक कमीशन नियुक्त करना पड़ा जिसका उद्देश्य ही था क्रान्ति का दमन करने की उपयुक्त योजना पेश करना। दिल्ली से लेकर ह्वाइट हाल

तक आतंक का कम्पन दौड़ गया। भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक जागृति की एक लहर-सी फैल गई। कितने क्रान्ति का समर्थन करते, कितने इसका घोर विरोध करते; किन्तु यह अनुमान किसी स्वप्न में भी नहीं कि इस सारी विध्वंस-लीला का सूत्रधार दुग्धफेन से भी सुकुमार, चन्द्र कला से भी सुन्दर एक बाला थी।

चाँदनी के रजत अंचल पर हँसी के फूल बिखेरती हुई कुसुम बोली—"कान्तू! योरुप की जिन महान आत्माओं का परिचय तुमने प्राप्त किया है, उनकी कहानी तो सुनाओगे ही?"

मैंने कहा—"कहानी तो सर्वत्र एक ही है। धनिकों के अत्याचार और उत्पीड़न से क्षुब्ध होकर निर्धन सभी जगह आत्म-संगठन कर रहे हैं। सभी जगह पूँजीपतियों और साम्राज्यवादियों के हाथ से अधिकार छीनने की भावना सजग हो रही है; किन्तु......"

कुसुम ने रोककर कहा—"मैं तो महान व्यक्तियों की कहानी सुनना चाहती हूँ, आन्दोलनों का इतिहास नहीं। फिर भी कहते जाओ, किन्तु क्या?

मैंने कहा—"आन्दोलनों के इतिहास के साथ महान व्यक्तियों की कहानी का चोली-दामन का सम्बंध होता है। दोनों के सामंजस्य से ही दोनों समझ में आ सकते हैं......"

हाँ, तो मैं यह कह रहा था कि अवस्था सर्वत्र एक ही है और साथ ही गल्ती भी हर जगह एक ही प्रकार की हो रही है।"

"कैसी गल्ती?"—कुसुम ने पूछा।

"उसे गलती कहने का अधिकार मुझे है या नहीं, यह मैं नहीं जानता, क्योंकि किसी मार्ग को गलत बतलाने का हक उसी को होता है, जो कोई दूसरा सही रास्ता दिखा सके। मैं मानता हूँ कि इस विषम परिस्थिति में से निकलने का दूसरा मार्ग क्या होगा, यह अभी ठीक मेरी समझ में नहीं आ रहा है। फिर भी यह वर्तमान-पथ गलत है, इतना मैं महसूस कर रहा हूँ।"

"शायद तुम्हारा संकेत हिंसा की ओर है"—कुसुम ने मुस्कराकर कहा।

"तुम्हारा अनुमान गलत नहीं है। हिंसावाद का अध्ययन करने से मेरा विचार उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया। हिंसा के दो पहलू हैं—एक हिंसक का, दूसरा हिंसा के पात्र का। जिसकी हिंसा होती है उसका विनाश तो होता ही है उससे भी अधिक विनाश उसका होता है जो हिंसा करता है। एक का शरीर नष्ट होता है, दूसरे की आत्मा। एक का वर्तमान छिन्न हो जाता हैं, दूसरे का भविष्य। हिंसा को लक्ष्य बनाकर जो लक्ष्य प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है, वह अन्त में इस योग्य रह जायेगा या नहीं कि उसे लक्ष्य के नाम से पुकारा जाय, इसमें मुझे संदेह है।"

गम्भीर स्वर में कुसुम ने कहा—"मैं भी मानती हूँ कि हिंसा का अस्तित्व ही जघन्य है और यह भी मानती हूँ कि हिंसक की आत्मा पर इसका प्रभाव विषमय पड़ सकता है, किन्तु एक ही बात मैं नहीं मानती और वह यह कि साधन बनकर यह लक्ष्य भी दूषित कर सकती है।"

"तुम मेरा पूर्व पक्ष मानती हो; पर उसकी उपपत्ति नहीं मानती, क्यों यही न?"—मैंने पूछा।

"नहीं, तुम्हारा पूर्व पक्ष भी मैं सोलहो आने नहीं मानती। उसके दो खण्ड किये जा सकते हैं। पहला यह कि हिंसा दो धारी तलवार है, इससे हन्य और हिंसक दोनों का विनाश होता है—एक का शारीरिक और दूसरे का मानसिक। दूसरा यह कि वर्तमान परिस्थिति में संसार में मनुष्यों के दो ही दल किये जा सकते है—एक हन्य और दूसरे हिंसक। मानवता का तीसरा दल हो ही नहीं सकता। क्या मैं ठीक समझ रही हूँ?"

"बिल्कुल ठीक।"

"अच्छा तो हम दोनों का मतभेद यहीं प्रारम्भ होता है। जिसे तुम

हिंसा कहते हो उसे मैं एक तरह का नश्तर समझती हूँ। एक तो वह सम्पूर्ण समस्त है जिसे तुम Body Politic कहते हो। दूसरे हैं उन अत्याचारियों के समूह जो उसमें रोग के कीटाणु बनकर घुस गए हैं। तीसरे वे हैं जिन्होंने नश्तर की छुरी की तरह हिंसा-व्यवसाय ही अपना धर्म बना लिया है और चौथे वे हैं जो डाक्टर की तरह उस हिंसात्मक छुरी का उपयोग करके उसे Body Politic में से सड़े हुए रक्त-मांस को निकाल देते हैं। अब नश्तर का पहला परिणाम होता है कि रोग के कीटाणु समूल नष्ट हो जाते हैं। दूसरा परिणाम यह होता है कि छुरी गन्दी होकर सेप्टिक हो जाती है। उसे या तो आग में जलाकर शुद्ध कर लेना है और नहीं तो फिर नष्ट कर देना है। तीसरा परिणाम यह होता है कि समाज फिर से स्वस्थ हो जाता है।"

मैंने इस तर्क का विरोध किया—"तुम क्रान्तिकारियों को नश्तर की छुरी बनाकर उन्हें Body Politic से अलग कर लेती हो, किन्तु यह केवल एक तर्क-भर है। व्यावहारिक क्षेत्र में यह असम्भव है।"

कुसुम हँस पड़ी—"तुम बिल्कुल उल्टा कह रहे हो। यही सच है। सारा जन समुदाय न तो पूँजीपति हो सकता है, न क्रान्तिकारी। Greatest Goodof the Greatest number (सर्वाधिक संख्या का सर्वाधिक हित) संसार का सबसे बड़ा धर्म, सबसे बड़ी नीति है। किन्तु वह जो सर्वाधिक संख्या है, वह तो सपनों में उलझी हुई, अल्हड़-सी सरल, सुकुमार एक अबला है। जन्म लेकर वह विश्व की विभूतियों को विस्मय विस्फारित नेत्रों से एक बार देख लेती है और फिर प्रकृति के तक़ाजे को पूरा कर अपने अंचल के नीचे अपनी संतान को दूध पीती छोड़ सदा के लिए सो रहती है। यह मानवता की अमर कहानी है। युग-युगान्तर से यही होता आया है और यही होता रहेगा, किन्तु समय-समय पर कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि उसके शरीर में रोग के कीटाणु घुस आते हैं और तब उन्हें मारने के लिए भी विष की जरूरत पड़ती है। Similia Similibus curanter—समः समं

शामयति। इसमें संदेह नहीं कि दोनों ही Body politic में ज़हर है, फिर भी एक के हो जाने पर दूसरे को भी होना ही पड़ता है। शायद कृष्ण ने इसीलिए कहा है—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च..."

मैंने बात काटकर कहा—"किन्तु यह जो तुम कह रही हो, वही ठीक है, इसकी गारंटी क्या है?"

"कुछ भी नहीं।"

"तो तुम्हारा यह पूर्व-पक्ष गलत हुआ तब?"

तब रुककर कुसुम ने कहा—"तब क्या होगा, इसकी कल्पना करके मैं अपने को द्विविधा में क्यों टालूँ? जब तक यह गलत साबित नहीं होता, तब तक तो मैं यही मानूँगी कि यह सही है।"

मैंने कहा—"किन्तु फिर ऐसा भी तो हो सकता है कि जिस दिन तुम्हें अपनी भूल मालूम हो उस दिन तुम इस योग्य न रहो कि पीछे लौट सको?"

"हो सकता है, अवश्य हो सकता है" कुसुम बोली—"किन्तु उस अनिश्चित संशोधन के अज्ञात दिवस की प्रतीक्षा में मैं चुपचाप भी तो नहीं बैठ सकती! यहाँ तो रुकना ही मृत्यु है। आगे तो बढ़ना ही है। रास्ता सही नहीं, गलत ही सही। इतना मानसिक संतोष तो रहेगा कि मैं निष्क्रिय बैठी नहीं हूँ, चलती जा रही हूँ। यही क्या कम है?"

किन्तु मैं इस तर्क से सहमत नहीं हो सका। मैंने पूछा—"किन्तु कुसुम, चलने के लिए इतनी उतावली क्यों? केवल सक्रिय रहने के लिए इतना आग्रह क्यों? इतना तो तुम मानती ही हो कि यह पथ सही भी हो सकता है और गलत भी। यदि मान लूँ कि यह सही ही है, जो मैं वास्तव में कभी नहीं मान सकता, तो भी तुम दो विषयों को आपस में लड़ाकर नष्ट कर डालती हो, यही क्या कम विध्वंस हुआ? तब तुम्हारी इस अपरिणामदर्शी सक्रियता का कितना कठोर मूल्य होगा?"

कुसुम कुछ न बोली—अन्तरिक्ष की ओर देखती हुई चुप रही। मैं कहता गया—"मैं पहले कह चुका हूँ और फिर भी कहूँगा कि यह रास्ता ग़लत ही है, यह कहने का मुझे अधिकार नहीं है। फिर भी इतना मैं कह सकता हूँ कि यदि संसार में अत्याचार का विरोध करने का कोई सर्वोत्तम मार्ग हो सकता है, तो अहिंसात्मक ही। हिंसा अत्याचारी का नाश भले ही कर दे; किन्तु अत्याचार का विरोध अहिंसा ही कर सकती है। हिंसा एक विष से दूसरे विष को लड़ाकर दोनों को नष्ट कर दे सकती है, किन्तु स्वयं अमृत बनकर विष को संजीवनी बना देना अहिंसा का ही काम है और···और···"

बात काटकर कुसुम ने कहा—"और एक बात और है। हिंसा पशुत्व का वह अवशिष्ट-स्मृति-चिन्ह है जिसे मानव अभी तक नहीं छोड़ सका है और शायद कभी नहीं छोड़ सकेगा। अहिंसा देवत्व का वह शुभ लक्षण है जिसे वह अभी तक नहीं अपना सका है, और सम्भवत: कभी नहीं अपना सकेगा। दर्शन और धर्म-शास्त्र के क्षेत्र में से उठकर राजनीति के क्षेत्र में लाना किसी अवतारी पुरुष का ही काम है। उसके लिए हिमालय को भी हिला देने वाली तपस्या की ज़रूरत है, समुद्र का जल सुखा देने वाले तेज़ की जरूरत है, और··· और मानती हूँ कि न तो मुझमें उतना बल है और न उतना धैर्य। मैं अपनी सीमाओं को जानती हूँ। संसार के संघर्षों के इतिहास में अभी वह दिन आने को है, जब हिंसा का स्थान अहिंसा लेगी। वह दिन आयेगा, जरूर आयेगा, ऐसा मेरा भी विश्वास है; किन्तु कब आयेगा यह नहीं कह सकती और तब तक···तब तक···"

"तब तक क्या उस शुभ दिन की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती—?" मैंने पूछा।

"अकर्मण्य बैठकर? नहीं, कभी नहीं। उस अनिश्चित दिवस की प्रतीक्षा में जीवन को निष्क्रिय बना देना अपने सिद्धान्तो का गला घोट

देना है। जीवन में प्रयोग भी एक चीज़ है। आविष्कार वही कर सकता है जो गलतियों से डरता नहीं। जिस पथ पर कोई गया नहीं, उसे वह कैसे कह सकता है कि वह ग़लत है या सही। अहिंसा का प्रतिपादन करने के लिए हिंसा की निःसारता को समझ लेना जरूरी है, और वह तभी हो सकता है जबकि······।"

एकाएक मैं पूछ बैठा—"कुसुम आज तक तुमने भी अपने हाथों किसी की हत्या की है ?"

कुसुम सहम गई, फिर ज़रा रुककर बोली—"क्रान्ति-मंडल के नियमों के अनुसार इसका उत्तर मैं तब तक तुम्हें नहीं दे सकती, जब तक तुम उसके सदस्य न हो जाओ।"

मैंने हँसकर कहा—"सदस्य न होकर भी तो मैं बहुत कुछ जानता हूँ।"

कुसुम बोली—"जो तुम जानते हो वह उसका शतांश भी नहीं हैं जो तुम नहीं जानते। फिर यह सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा कि मंडल की आज्ञा है कि या तो तुम्हें सदस्य बना लिया जाय और नहीं तो······

"गोली मार दी जाय !"

हँसते हुए उसने कहा—"ऐसा ही कुछ।"

"और मैं सदस्य न बनूँ तो ?"

"तो मुझे तुम्हारा दायित्व अपने सिर लेना पड़ेगा। यदि ··"

"तुम मेरे लिए ऐसा क्यों करोगी ?"

"तुम मेरे गुरु जो हो !"

"गुरु ? गुरु कैसा ?"

"शायद तुम अपना वह सम्पादकीय भूल गये जिसमें तुमने मिर्जापुर वाली घटना पर···"

"तो, तो क्या···"

"हाँ, हाँ, वही। मेरे इस जीवन का उसी से सूत्रपात हुआ था और मेरे इस पथ का जैसा भी अंत हो, उसका सारा दायित्व तुम्हारा ही होगा

किन्तु अभी छोड़ो उन बातों को। मैंने तो तुमसे कहा था कि योरुप के अपने मित्रों की कुछ कहानियाँ सुनाओ और तुम...”

एक अनपेक्षित आविष्कार से आश्चर्य-प्रतिहत-सा मैं धुँधले क्षितिज अनंत शून्यता में आँखें गड़ाये मौन बैठा रहा।

रजनी बाबू एक बार फिर चुप हो गए। काले आकाश में तारे प्रकाश के छींटों की तरह उग आए थे। पत्थर के काले टीले के पीछे क्षितिज में पीलापन भीन रहा था। चाँद उगने को था। कितने ही प्रकाश मेरे होठों पर आकर लौट गए। उस छाया और प्रकाश के संगम पर सिर उठाकर खड़े हुए मूक टीलों को देखते हुए रजनी बाबू कहने लगे—“इसके बाद की कहानी परिशिष्ट-मात्र है। कुसुम ने आजीवन विवाह नहीं करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। मैंने भी अविवाहित रहने का व्रत कर लिया। क्रान्ति-मंडल का सदस्य तो मैं नहीं बन सका; किन्तु ऊपर से सहायता करता रहा। मेरी स्थिति विचित्र थी। हिंसा के विरुद्ध होकर भी इस हिंसात्मक आन्दोलन के प्रति मैं सहानुभूति रखता था और इसका शायद प्रधान कारण था कुसुम का व्यक्तित्व।

इसके थोड़े ही दिन बाद रूस की क्रान्ति की खबर मिली। लेनिन ने ज़ारशाही का अंत कर दिया। योरुपीय महायुद्ध ज़ोरों में था। रूस और जर्मनी में समझौते की शर्तें होने लगीं। इसी समय कम्युनिस्ट इएटरनेशनल के दो सदस्य छिपकर भारत में चले आए और उनके साथ ही मैं रूस चला गया।

इसके बाद प्रायः डेढ़ साल तक मुझे स्वदेश की कोई खबर नहीं मिली। इस बीच में संदेह में गिरफ्तार होकर तीन बार मुझे रूस के जेल की हवा खानी पड़ी। एक बार सोशलिस्ट मिलीशिया की गोली खाते-खाते बचा।

प्रायः डेढ़ साल बाद लेनिनग्रेड में अचानक कुसुम के छोटे भाई कमुद से मेरी मुलाक़ात हो गई। रूस में आकर कुमुद ने मेरा बहुत-

कुछ पता लगाया; किन्तु मैं कहीं नहीं मिला। वह एकदम निराश हो गया था कि एकाएक आपेरा में हम दोनों की मुलाक़ात हो गई।

कुमुद के मुँह से जो समाचार मैंने सुना, उससे मैं स्तम्भित रह गया। महायुद्ध से निवृत्त होकर ब्रिटिश सरकार ने भारत से क्रान्तिवाद को समूल उखाड़ फेंकने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। रूस की क्रान्ति ने बड़े-बड़े आदमियों के हृदय में धड़कन पैदा कर दी थी। जन-समूह की निम्न श्रेणी में शिक्षा का अभाव था। जो लोग शिक्षित थे वे क्रान्ति के नाम से डरने लगे थे। लोकमत क्रान्ति के विरुद्ध हो गया। सरकार हाथ धोकर इसके पीछे पड़ गई। क्रान्ति-मंडल के तीन प्रमुख सदस्य फाँसी पर चढ़ा दिये गए बहुत से कालापानी भेज दिये गए और सैकड़ों केवल संदेह से गिरफ्तार किए जाकर जेलों में ठूँस दिये गए। जो बचे-खुचे थे वे पुलिस के डर से जहाँ-तहाँ छिपने लगे।

"और···और···कुसुम ?"—मैंने धड़कते हुए दिल से पूछा।

"कुसुम भागकर नेपाल चली गई और वहाँ के राजवंश के किसी बहुत धनिक आदमी से विवाह कर लिया।"

"कुसुम···कुसुम···ने विवाह कर लिया ?"

"हाँ।"

मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने एक बार फिर पूछा—"कुसुम ने विवाह कर लिया ?"

"हाँ।"

संगीत के एक अंतिम उच्छ्वास के साथ आपेरा समाप्त हुआ। हॉल खाली होने लगा। कुमुद ने कंधा पकड़कर मुझे झकझोरा—"चलो, उठो।"

मंत्र-मुग्ध की तरह मैं उठ खड़ा हुआ। रास्ता कैसे कटा, मुझे याद नहीं। थोड़ी देर बाद मैंने अपने को कुमुद के होटल के कमरे में बैठा हुआ पाया। चाय बनाते हुए कुमुद ने पूछा—"स्वदेश कब चलोगे ?"

मैं चुप रहा।

कुमुद फिर बोला—"कुसुम ने तुम्हें बुलाया है।"

"मुझे! किसलिए?"

"बहुत-सी बातें हैं। अभी तो मैंने तुमसे कहा ही नहीं। नेपाल के एक निर्जन प्रदेश में कुसुम क्रान्ति-मंडल को फिर से स्थापित करने का अंतिम आयोजन कर रही है। वह विदेशों से शस्त्रास्त्र मँगाने का प्रबंध कर रही है। रूस के कुछ कार्यकर्ताओं को भी उसने सहायता के लिए निमंत्रित किया है। यहाँ बात पक्की हो गई है। एक सप्ताह के अन्दर ही हम लोग यहाँ से जाने वाले हैं। यह तो बड़े सौभाग्य की बात है कि तुमसे भी मुलाकात हो गई।"

मैंने पूछा—"कुसुम का पति भी इसमें सहमत है क्या?"

"कुसुम का पति तो साठ साल का बुड्ढा है। वह जैसे नचाती है, वैसे ही नाचता है और उसका सारा ऐश्वर्य···"

"तो कुसुम ने बूढ़े से विवाह किया है?"

"तुम इसे विवाह कहते हो? यह उसके जीवन का सबसे बड़ा बलिदान है। क्रान्ति को जीवित रखने के लिए कुसुम ने अपने शरीर को बेंच डाला है···फिर भी मालूम नहीं, इसका अंत क्या होगा।"

उस रात जब कुमुद सो गया और सारी प्रकृति निस्तब्ध शिथिल-सी पड़ी रही, तब मैं अँगीठी के सामने बहुत देर तक बैठा जागता रहा। कुसुम का पथ ग़लत निकला। एक अनिश्चित प्रयोग से उसने जीवन को नष्ट कर डाला। केवल चलते रहने की लगन, कर्मण्यता की अतृप्त वासना ने उसे इस मार्ग पर ढकेल दिया। विष का नाश करने के लिए उसने अपने आपको विष बना डाला···और···और फिर यह विवाह···साठ वर्ष के बूढ़े के साथ!

इसका दायित्व किसके ऊपर था?

एक हफ्ते के भीतर मैं कुमुद के साथ इङ्गलैण्ड चला गया और फिर वहाँ से भारत के लिए रवाना हो गया। किन्तु जहाज के कप्तान

को हम लोगों के विषय में कुछ खबर लग गई। हम लोगों के साथ दो रूसी कार्यकर्ता भी थे। हम लोग संकट में पड़े। अब हम लोगों के सामने दो ही बातें थीं—या तो आत्म-समर्पण करना और नहीं तो कैद होना। किन्तु दोनो ही हालतों में हम लोगों की स्कीम चौपट हो जाती। इसके अतिरिक्त हम लोगों के साथ ऐसी चीजें थीं जिन्हें सुरक्षित रखना जरूरी था। अंत में मैंने एक उपाय निकाला। एक रात मैंने डेक पर घूमते हुए कप्तान पर गोली चलाने का अभिनय किया, गोली उसे लगकर रेलिंग से टकरा गई। सारा प्लान पहले से तैयार था। कुमुद और दोनो रूसियों ने मुझे पकड़ लिया और मेरी पिस्तौल छीन ली। परिणाम यह हुआ कि मैं क़ैद कर लिया गया और मेरे बाक़ी साथियों पर से कप्तान का संदेह जाता रहा। वे लोग सब चीजें लेकर सुरक्षित निकल गए और मैं पेशी के लिए बनारस भेज दिया गया।

इसके बाद जो कुछ हुआ वह तो शायद बहुतों को मालूम होगा। मुझे आजन्म कालापानी की सजा हुई। सत्रह साल तक अंडमन में रह क़र अभी हाल में मैं छूटा हूँ और यहाँ आने के एक सप्ताह बाद ही मुझे आपके दर्शन हुए।"

रजनीकान्त बाबू चुप हो गए। मैंने उत्सुकता से पूछा—"लेकिन··· लेकिन···कुसुम का क्या हुआ?"

गम्भीर स्वर में उन्होंने कहा—"करीब बारह साल हुए मेरा एक पुराना साथी कालापानी की सजा पाकर मेरे जेल में पहुँचा। उसी से मालूम हुआ कि कुसुम की वह स्कीम भी असफल रही। गवर्नमेंट ने नेपाल की सरकार पर दबाव डाला और नेपाल की सरकार ने उसके गुप्त भंडार पर धावा करके उसके सारे अस्त्र-शस्त्र छीन लिए। उसके पति की जायदाद भी जब्त कर ली गई। क्रान्ति-मंडल के बचे हुए सदस्यों में से बहुतेरे पकड़ लिये गए। बाकी लोग जिधर-तिधर भाग गए। कुमुद बहुत दिनों तक जेल में बीमार रहकर अन्त में चल बसा और···"

"किन्तु···किन्तु कुसुम?"

"कुसुम कहाँ गई, कोई नहीं जानता; किन्तु इतना पता लगा कि कि स्वर्ण रेखा के किनारे पत्थर के काले टीलों के पास एक निर्जन प्रदेश मे एक झोंपड़ी में एक स्त्री रहती थी जो कुसुम से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। वह भग्नहृदया थी, एकाकिनी थी और किसी से बोलती तक नहीं थी। केवल कभी-कभी बच्चों को देखकर हँस पड़ती और उन्हें गोद में उठा लेती और इसके बाद फिर अपनी झोपड़ी में चली जाती। इसके बाद फिर वह भी कहीं चली गई—कहाँ गई, किसी को मालूम नहीं। शायद···"

"और···और···वह झोपड़ी ?"

"वह झोपड़ी यहीं शायद कहीं थी···सम्भवतः आपकी इसी ज़मीन में। उस काले पत्थर के स्तूप पर टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में क्या लिखा है, यह आपने कभी पढ़ने की चेष्टा की है ?"

"की तो थी, पर पढ़ नही सका।"

"उसमें लिखा है—पथ वही है जो अहिंसात्मक हो और क्रान्ति वही है जो सुपथगा हो। मेरा अनुमान है, कुसुम ने ही उसे लिखा है।"

चाँदनी उग आई थी। स्वर्ण-रेखा में चाँदनी का जाल-सा बिछ गया था। काले पत्थर का वह स्तूप पथ के अंत पर थककर बैठे हुए स्मृतियों में खोया-सा किसी उद्भ्रान्त पथिक की तरह मानो निःश्वासों की मूक भाषा में बुदबुदा उठा···सु···प···थ···गा···

———

बाजी

जिस साल मैंने बी० ए० पास किया, उसी साल मेरी फुफेरी बहिन की शादी थी। मेरे फूफा विलासपुर में असिस्टेण्ट सर्जन थे। शादी के पन्द्रह दिन पहले ही मैं फूफा जी के यहाँ रवाना हुआ। बात यह थी कि उनके घर में कोई सयाना आदमी न था। फूफा जी व्यस्त रहते थे। उन्हें काम से ही फुर्सत कम मिलती थी। उनके घर में जितनी शादियाँ होतीं सभी के इन्तजाम का भार चाचा जी के सिर पड़ता। अब मैं बी०ए० पास कर चुका था। अब मेरी गणना भी सयानों में होने लगी थी। चाचा जी एक मुकद्दमे में परेशान थे। मुझसे कहा कि तुम पहले चलो, मैं शादी के दो रोज पहले आऊँगा। मैंने इस प्रस्ताव का हृदय से स्वागत किया और पन्द्रह दिन पहले ही चल पड़ा।

मण्डनपुर रेलवे स्टेशन है और वहाँ से विलासपुर तीन मील दूर है। पक्की सड़क है, साफ-सुथरी और एकदम सीधी। मैं विलासपुर पहले कभी नहीं गया था। बैसाख का महीना था। ट्रेन रात को साढ़े तीन बजे स्टेशन पहुँची। साथ में असबाब कुछ बहुत नहीं था, एक छोटा बक्स, बिस्तर तथा एक खंचोले में कुछ फल और मिठाइयाँ। छोटा-सा स्टेशन था। सवारी के नाम उन्नीसवीं शताब्दी का एक इक्का मिला। इक्केवान ने पहले तो दो रुपये की फरमाइश की, फिर फूफा जी का नाम सुनकर कुछ ढीला पड़ गया। उसकी मौसी के दामाद के भाई को कभी कालरा हुआ था, उस समय फूफा जी का इंजेक्शन उसे काल के मुँह से लौटा लाया था। उसने कहा कि चलिए, जितना भी दीजिएगा ले लूँगा, किन्तु मुझे उसके लँगड़े घोड़े पर तरस आने लगा। एक फर्लांग भी उस पर चढ़कर जाना उस पर क्रूरता थी। मैंने एक तगड़े कुली को बुलाया। पूछा—विलासपुर चलोगे? कुली राजी हो गया।

बस मैं पैदल ही चल पड़ा। रात ढल चुकी थी। गायक के शब्दों में मालकोश बीत रहा था, भैरवा आ रहा था। प्रकृति जागरण की अँगड़ाई ले रही थी। साँवले आकाश में हल्का पीलापन भीन गया था। जान पड़ता था कि किसी अर्द्ध बर्बर देश में सभ्यता के नवयुग का विधान हो रहा है। प्रभात-वायु के शीतल मादक स्पर्श से रह-रह कर सिहरन हो आती थी। तीन मील का रास्ता दोपहर के स्वप्न की तरह कैसे खत्म हो गया, पता ही नहीं चला।

विलासपुर एक कस्बे की तरह था। जहाँ पक्की सड़क खत्म होती थी, वहीं एक मन्दिर था और बगल में एक तालाब। किसी धर्म-भीरु धनिक महाजन की रूढ़िबद्ध दानप्रियता का सजीव नमूना था। पक्के घाट जगह-जगह से टूट गए थे। किनारे पर चारों ओर घने वृक्षों की छाया थी। उसके एक-एक कोने जान पड़ता था मानो रोमांस झाँक रहा हो। थोड़ी दूर पर एक बड़ा बगीचा था। भीतर दो बंगले थे। मैंने अनुमान किया कि इन्हीं में से फूफा जी का भी एक होगा। हम लोग बगीचे में घुसे। पहला बंगला छोटा था। आगे कटीले तारों का घेरा था और पीछे नीले काँटों की झाड़ी। भीतर फूलों की क्यारियाँ बनी हुई थीं। वहीं एक ओर गुलाब की झाड़ी में उलझी-सी एक सोलह-सत्रह साल की लड़की खड़ी थी। पास में एक बच्चा फूल तोड़ रहा था। मैं सोच रहा था, कोई मर्द निकले तो पूछूँ कि डाक्टर साहब का मकान कौन-सा है। तब तक कुली पूछ बैठा—"डाक्टर बाबू का मकान यही है?"

लड़की ने एक बार घूम कर देखा, फिर हम लोगों को देखकर, झिझककर मुँह फेर लिया। गुलाब के काँटे भी हम लोगों से कम शरारती नहीं होते। वह जल्दी में जैसे-जैसे अपने को छुड़ाना चाहती, वैसे ही और भी फँसती जाती थी। कुली ने फिर पूछा—"डाक्टर बाबू का मकान किधर है?" मैं वहाँ से हटना ही चाहता था कि बच्चे ने कहा—"यही है।" मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ, यदि यही उनका मकान

है तो यह फिर दोनों कौन है ? मैं सोच ही रहा था तब तक कुली अहाते का फाटक खोलकर भीतर घुस पड़ा। पीछे-पीछे मैं भी घुसा। कुली ने बरामदे में असबाब रख दिया। मैं सोच ही रहा था कि अन्दर चलूँ—तब तक लड़की ने कहा—"डाक्टर बाबू का मकान यह नहीं है, वह है।"

उसके स्वर में रोष भी था और विनोद भी। ओंठों पर परिहास की हल्की-सी एक रेखा थी और आँखों में झिझक। अँगुली में एक काँटा गड़ गया था। वह आँचल से लहू पोंछ रही थी। मुझे बड़ी शर्म आयी। मैं सिर्फ इतना ही कह सका—"I am sorry." और एक ही छलांग में कम्पाउण्ड पार करके सड़क पर आ गया था। सड़क पर पहुँचते ही बच्चे ने जोर का ठहाका लगाया। मैं जमीन में गड़ा जा रहा था। यह मुझे कैसा मूर्ख समझती होगी। लेकिन मेरी बेवकूफी थी ही क्या ? मैं अपने मन से तो अहाते में घुसा नहीं था। मैं क्या जानता था कि कौन किसका मकान है ? फिर भी जानने या अनजानते में बेवकूफी तो हुई ही थी। मुझे कुली पर रोष आया, लेकिन उस बेचारे का भी क्या दोष ? सारी शरारत तो उस बच्चे की थी। बात कोई बड़ी नहीं थी, फिर भी ज़िल्लत तो हुई ही। मैंने पहुँचते ही फूफा जी पर दिल का बुखार निकाला।

"आपने स्टेशन पर कोई आदमी क्यों नहीं भेज दिया ?" मैंने पहुँचने के साथ पहला सवाल किया।

"कौन, कुमुद ? आ गए ? तुम तो कल शाम की गाड़ी से आने वाले थे ?"

"वह ट्रेन छूट गई।"

"कल शाम को तो आदमी स्टेशन पर गया था। मैंने उससे कह दिया था कि रात की गाड़ी पर भी चले जाना। मुमकिन है, रात में सो गया हो। तुम्हें रास्ते में कोई तकलीफ तो नहीं हुई ?"

"नहीं, तकलीफ तो नहीं हुई, लेकिन यहाँ पता ही नहीं चलता था कि कौन-सा मकान आपका है। मैं गलती से उस मकान में चला गया।"

"बिभू बाबू के मकान में? ऐसी गलती अकसर हो जाया करती है। एक बार उनके यहाँ की तरकारी हमलोग सब कुछ खा-पी गए। हाँ, मुन्नू, भैया आये हैं। देखो, अन्दर लिवा ले जाओ।"

अब यह कौन किसको समझाए कि दूसरे के यहाँ की तरकारी अपने यहाँ चली आने में, खुद दूसरे के घर घुसकर बेवकूफ बनने में—और वह भी एक षोड़शी के सामने—कितना अन्तर है। उसके ओठों का परिहास, आँखों की झिझक और उस बच्चे का ठहाका—मैं दिन भर नहीं भूल सका। अब उधर भूलकर भी न जाऊँगा।

दूसरे दिन खा-पीकर मैं बाहर के कमरे में सोने का उपक्रम करने लगा। गर्मी के मौसम में दिन का सोना भी एक कला है। मैंने खिड़कियाँ बन्द कर दीं। उनके सुराखों में कपड़े ठूँस दिये। बाहरी दरवाजे पर खस की एक टट्टी जो बहुत खोजने पर एक गोदाम में फेंकी हुई मिली थी, लटका दी और उस पर पानी छिड़क दिया। कमरे में एक बाल्टी पानी और एक पिचकारी रख ली। पलंग से मोटा गलीचा हटा कर एक हल्की-सी दरी और चादर बिछायी। पास में तिपाई पर एक सुराही और थोड़े से बताशे रख लिये और ताड़ के पंखे के साथ लेट कर एक डिटेक्टिव नॉवेल पढ़ने की तैयारी करने लगा। इतने में ही बाहर से किसी ने जोर से दरवाजा खटखटाया।

मैंने क्रोध से पूछा—"कौन है?"

उत्तर आया—"हम हैं।"

"कौन, मुन्नू?"

"हाँ"

"क्या है?"

"दरवाजा खोलिए।"

"यों ही"

"नहीं।"

"काम बतलाओ।"

"खोलिए भी तो।"

"मैं नहीं खोलता।"

मुन्नू चला गया। मैं लेटकर पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते कब आँख लग गई, पता नहीं। किन्तु आध घण्टे के बाद फिर जोर से दरवाजा खटखटा उठा।

"कौन, मुन्नू?" मैंने डाँटकर पूछा।

"हाँ।"

इस बार मुन्नू अकेला नहीं था। साथ में मिनिया और चुनिया भी थीं। पूरी बटैलियन थी। दिन की नींद परकीया नायिका की तरह पहले तो जल्दी आती नही, और आती भी है, तो तृप्ति नहीं होती। मैंने क्रोध से कहा—"क्या है? मार खाओगे?"

"जी नहीं।"

"जी नहीं, उल्लू कहीं का! भागता है या नहीं?"

"जरा चलिए अम्मा बुला रही हैं।"

"पूछ आओ, क्या काम है?"

"ताश खेलने को बुला रही हैं।"

"मैं ताश नहीं खेलता, जाओ।"

लेकिन मुन्नू ऐसा अधूरा सिपाही नहीं था, जो खाली लौट जाय। उसने तर्क शुरू किया—"आखिर अब आपको नींद तो आयेगी नहीं।"

मैं कुछ नहीं बोला?

"जानते हैं दिन में सोने से विद्या नहीं आती।"

मैं फिर भी चुप रहा। इस पर मिनिया-चुनिया ने तुमुल आन्दोलन

शुरू कर दिया। जान पड़ा दरवाजा तोड़ देंगी। लाचार उठना ही पड़ा। ताश खेलना बुआ जी का पुराना मर्ज था। मैं जानता था, बिना खेले छुटकारा नहीं होने का। अंत में दो-चार बताशे खाकर और थोड़ा-सा पानी पीकर मैं ताश खेलने लगा।

कमरे में ताश-पार्टी बैठी थी। पहुँचते ही बुआ जी ने कहा—"आओ मुन्नू! बहुत दिन हुए तुम्हारे साथ खेले। आज ऐसा हारोगे कि याद करोगे।"

मैंने देखा, खेलनेवालियों में एक थीं बुआ जी, दूसरी थी मनोरमा—उनकी लड़की, और तीसरी?—तीसरी वही कल वाली लड़की थी। मेरा कलेजा एक बार धक् से रह गया और उसने भी मुझे देखकर संकोच से सिर झुका लिया।

खेल शुरू हुआ, हम और मनोरमा एक साथ थे। बुआ जी ने आज मुझे हराने का निश्चय कर लिया था। बोली—"देख उर्म्मी, जरा ठीक से खेल। अगर आज कुमू को नहीं हराया, तो कुछ नहीं किया। अगर आज तू जीत जाय, तो तेरे लिए खूब अच्छा-सा ताश मँगा दूँगी।"

लेकिन मनोरमा भी अपनी माँ से कम न थी; बोली—"कुमू भैया, तुम जरा मन से खेलो तो मैं अम्मा को ऐसा हराऊँ कि जिसका नाम! आज तक कभी जीती भी हैं या आज ही जीतेंगी।"

बुआ जी ने तैश में कहा—"अरी वाह! आयी है बड़ी खेलनेवाली बनकर। खेल तो पता चलेगा। मैं क्या कुमू से डरती हूँ। बी० ए० पास कर लिया, तो क्या हुआ? मुझसे ही तो ताश खेलना सीखा था! उम्मी, जरा पत्ते ठीक से फेंट तो बेटी।"

खेल जोर-शोर से शुरू हुआ। हम लोग लगातार हारने लगे। हारने का कारण था, कुछ तो मनोरमा की बेवकूफी तथा कुछ मेरी लापरवाही। मैं हार-जीत के विषय में उतना चिन्तित न था, जितना

यह जानने के लिए कि उम्मी मेरे विषय में क्या समझ रही है और यह जानना आसान न था।

वह मेरी ओर भूल कर भी न देखती थी। मगर मैं समझ रहा था कि मेरी छोटी से छोटी हरकत भी उसकी सूक्ष्म दृष्टि से छूटकर नहीं जा सकती। उसकी ऊपरी उदासीनता के भीतर उत्सुकता और कुतूहल की गहरी धारा बह रही थी और मैं इस आवरण को खोल देना चाहता था। उसकी उदासीनता मुझे असह्य हो चली और मैंने यह निश्चय किया कि इसे किसी तरह छेड़ूँगा।

आखिर एक मौका भी मिल गया। वह लोग खेल में भी जीत रहे थे, मैंने उसकी मेम पर ट्रम्प मारा। मेरे पास उस रंग का पत्ता था और वह जानती थी कि मेरे पास वह पत्ता है, फिर भी मैंने वह ट्रम्प मार ही दिया। वह एक बार जरा झिझकी। लेकिन फिर तुरन्त ही सचेत-सी होकर अन्यमनस्क हो गई। फिर वही उदासीनता मानो कुछ हुआ ही नहीं। हम लोग जीत गए। मनोरमा ने उत्साह के साथ कहा—"भैया, इस बार हम लोग जीत गए।"

बुआ ने पूछा—"हाँ, उम्मी, पत्ते गिनकर देख तो।"

उम्मी के होठों पर परिहास की एक लहर-सी दौड़ गई। उसने कहा—"हाँ।"

मैं शर्म से लाल हो गया। फिर भी मैंने शरारत नहीं छोड़ी। सोचा इसे बुलाऊँगा जरूर। देखूँ, कब तक चुप रहेगी। मैं उससे झगड़ा करना चाहता था। उसका समझना और समझकर चुप रह जाना—यही तो असह्य था। उसका एक पत्ता हाथ से छूटकर गिर पड़ा। मैंने कहा—"आपको यही चलना पड़ेगा।"

बुआ जी ने आवेश के साथ पूछा—"यही क्यों चलना पड़ेगा।"

मैंने कहा—"यह खुल गया है।"

"तो इसे तुम रख सकते हो। लेकिन चला नहीं सकते।"

"नहीं, मैं इसे चला सकता हूँ।"

"यह कौन-सा क़ायदा है।"

"यह नया क़ायदा है।"

"वाह, तुम्हीं एक नया कायदा जानते हो या और भी कोई जानता है।"

उम्मी ने एक बार मेरी ओर दयापूर्ण दृष्टि से देखा, फिर कहा—"नहीं अम्मा, यह कायदा है और अभी नया चला है। अब मुझे यही पत्ता चलना पड़ेगा।"

उस बार हम लोग जीते और उस बार भी मनोरमा ने उत्साह के साथ कहा—"भैया, इस बार हम लोग जीते।" फिर वही हल्की-सी परिहास की लहर, वही उदासीनता, वही लापरवाही। मैं अपने आप पर खीझ उठा। कहना न होगा कि इसके बाद हम लोग हारते ही गए।

उसी दिन शाम को फूफा जी ने बिभू बाबू से मिलाया। बिभू बाबू विलासपुर इङ्गलिश हाई स्कूल के हेड मास्टर थे पूरा नाम था, विभव प्रकाश गुप्त। अधेड़ उम्र, लंबे-तगड़े, हृष्ट-पुष्ट। देखने से श्रद्धा होती थी। मिलनसार आदमी थे और हँसमुख, जैसा कि स्कूली मास्टर बहुत कम होते हैं।

उन्होंने मुझसे जो पहला प्रश्न पूछा, वह यह था—"आपके जीवन का लक्ष्य क्या है?"

मैंने कहा—"मैंने आपके प्रश्न का अभिप्राय नहीं समझा।"

"आप जीवन में क्या करना चाहते हैं?"

मैंने कुछ सोचकर उत्तर दिया—"मैं विद्वान होना चाहता हूँ।"

"विद्वान बनना तो कोई लक्ष्य नहीं है। कोई विद्या पढ़कर फिर उसमें कुछ उन्नति करना अलबत्ता एक आदर्श माना जाता है।"—उन्होंने कहा।

मैंने कहा—"दोनों में कोई महत्वपूर्ण अन्तर तो है नहीं।"

उन्होंने कहा—"है; मनुष्य विद्वान् होता है अपना कुतूहल मिटाने के लिए, संसार के आश्चर्यजनक सत्यो से अवगत होने के लिए। किन्तु यह बहुत कुछ स्वान्तःसुखाय होता है। इसके विपरीत जो उस विद्या मे कुछ उन्नति करना चाहता है उसका भंडार बढ़ाना चाहता है, वह अपने व्यक्तित्व का विकास करके उसकी छाया उस पर डाल देता है। स्वयं परिश्रम करके अपनी मेहनत का फल दूसरों के लिए रख छोड़ता है। दोनों में यही अन्तर है।"

मैंने कहा—"आपके कहने का अभिप्रायः शायद यह है कि विद्या का उपयोग क्रियात्मक होना चाहिए। केवल स्वान्तःसुखाय जो विद्या होती है, वह दिमागी ऐश के समान हो जाती है। किन्तु मैं तो कहूँगा कि विद्या के क्षेत्र में भी उपयोगिता का स्थूल सिद्धान्त घुसाने से उसकी मधुरता और स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। क्रिया विचार का ही एक छोर है। एक क्षितिज के इस पार है और दूसरा उस पार। दोनों के पूर्ण सामञ्जस्य से ही दोनों का समुचित विकास हो सकता है।"

बिभू बाबू कुछ कहने ही जा रहे थे, तब तक बीच में फूफा जी टपक पड़े—"बिभू बाबू, चाय ठण्डी हो रही है और आपकी बहस छिड़ी हुई है। यह तो बुरी आदत है आपस में।"

बिभू बाबू सस्ते ही छोड़ने वाले आदमी न थे; बोले—"कुमुद बाबू, इस विषय पर हम लोग फिर बातें करेंगे।"

मैंने कहा—"जरूर, जरूर।"

इस विषय पर फिर बाते करने का हम लोगों को मौका ही नहीं मिला। लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि उसी रात को जब मैं खा-पीकर सोने की तैयारी कर रहा था, तब मुन्नू हँसता हुआ मेरे पास पहुँचा। उसकी आँखों से रहस्यपूर्ण कुतूहल झलक रहा था। उसने कहा—"भैया जी, कहिए तो आपको एक खबर सुनाऊँ।"

मैंने कहा—"सुनाओ।"

उसने कहा—"ऐसे नहीं, कुछ दीजिए तब।"

मैंने पूछा—"ऐसी कौन-सी खबर है जो मैं तुम्हें रिश्वत दूँ।"

वह बोला—"नहीं, वह ऐसी ही है खबर।"

मैंने कहा—"तुम अपनी खबर अपने पास रखो। मैं नहीं सुनूँगा।"

उसने कहा—"ज्यादा नहीं आप अपनी सेण्ट की शीशी दे दीजिए, मैं खबर बता दूँगा।"

मैंने कहा—"तुम शीशी ऐसे ही ले लो, खबर बेंचने की क्या जरूरत।"

उसने कहा—"नहीं, यह बात तो आपको सुननी होगी। अभी बिभू बाबू जी से पूछ रहे थे कि कुमुद बाबू की शादी हुई या नहीं?"

"तो इससे मुझे क्या?" मैंने कुतूहल दबाकर पूछा।

"इस पर बाबू जी ने कहा कि अभी नहीं हुई है और न होगी ही। तब बिभू बाबू ने पूछा कि क्यों? तो उन्होंने कहा कि हम लोगों की राय है कि कुमुद को ऊँची शिक्षा के लिए विलायत भेजा जाय। ऐसी हालत में अभी शादी होना ठीक नहीं। इस पर और न जाने क्या-क्या बातें हुईं?"

"तो इससे मुझे क्या करना है?" मैंने खीझकर कहा।

"हाँ, हाँ, मैं खूब समझता हूँ, ऊपर से ऐसी बातें करते हैं कि कोई मतलब ही नहीं लेकिन पेट में चूहे कूदते होंगे। अब मैं उम्मी दीदी को खूब खिझाऊँगा।"

"अच्छा ठहरो।" मैं उसे पकड़ूँ-पकड़ूँ तब तक वह शरारती भाग गया। मैं रात में बड़ी देर तक जागता रहा।

उम्मी सिनेमा स्टारों की तरह सुन्दरी नहीं और न उनकी तरह प्रेम ही करना जानती है, बहुत पढ़ी लिखी भी नहीं है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय

विषयों पर बातें कर सके। वह जिसकी लड़की है वह भी कोई बड़ा आदमी नहीं है। कोई खास बात नहीं है। फिर भी······फिर भी वह आदर्श गृहिणी हो सकती है। पति के हृदय को सुख एवं शांति पहुँचाने के लिए उसके पास बहुत कुछ है और एक चीज जो उसके पास है, वह शायद बहुतों के पास न मिलेगी······वह परिहास की लहर······वह झिझक······उदासीनता की बर्फीली तह के नीचे बहती हुई आलोचनात्मक विश्लेषण की वह धारा।

दूसरे दिन मैं बैठक की तस्वीरों को साफ कर रहा था। बुआजी ने कहा—"कुमू, जरा मेरी तस्वीर को भी ठीक कर देना।"

मैं बैठक से निकट उनके सोने के कमरे में जा रहा था कि मुन्नू अन्दर से ही आवाज दी—"भैया जी, इधर मत आइएगा।"

मैं सहम गया पूछा—"क्यों ?"

मुन्नू ने कहा—"यहाँ उम्मी दीदी बैठी हैं।"

मैंने पूछा—"तो इससे क्या हुआ ?"

वह हँसी रोककर बोला—"वे ··वे···जरा आपसे शर्माती हैं।"

मैंने कमरे में घुसकर कहा—"मुन्नू तुम हद से ज्यादा शरारती हुए जाते हो। मैं फूफा जी से शिकायत करूँगा।"

उसने कहा—"और मैं नहीं शिकायत करूँगा कि उम्मी दीदी आपसे शर्माती हैं, फिर भी आप मानते नहीं घुसे ही आते हैं।"

कमरा सेण्ट से तर हो रहा था। मैं समझ गया कि मुन्नू ने मेरी शीशी पर हाथ साफ किया है। मैंने पूछा—"तुमने सारा का सारा सेण्ट खराब कर दिया।"

मुन्नू बोला—"वाह! आपने तो मुझे दे ही दिया था। मेरे जो जी में आयेगा, करूँगा। अब आपसे मतलब।"

तब तक मिनिया बोली—"यह देखो, उम्मी दीदी भी सेण्ट लगाये हुए हैं।"

उम्मी शर्म से लाल हो गई। वह बेचारी क्या जानती थी कि मुन्नू मेरा ही सेण्ट लेकर इतनी उदारता दिखला रहा है। तब तक मनोरमा भी पहुँच गई; बोली—"वाह भैया खूब! अकेले अकेले बातें कर रहे हो।"

मैंने समझ लिया कि सबका गुट है। चुपचाप तस्वीरें उतार कर साफ करने लगा इतने में ही बुआ जी आ पहुँचीं; बोलीं—अरे आज इतना सेन्ट कहाँ से महक रहा है।"

मुन्नू बोला—"भैया ने मुझे एक खुशखबरी सुनाने का इनाम दिया है।"

बीच में मिनिया बोल उठी—"और देखो न, उम्मी दीदी ने भी तो लगाया है।"

बुआ जी हँस पड़ीं; बोलीं—"मैं तुम लोगों की सारी शरारत समझती हूँ। कुमू, जरा यह घड़ी तो ठीक कर दो। बन्द हो गई है, चलती ही नहीं।"

मैंने कहा—"देखूँ।"

मौका पाते ही मैं घड़ी लेकर वहाँ से बाहर भागा। जाते-जाते मेरी और उम्मी की आँखें चार हो गईं। मैंने देखा, पलकों के नीचे से शर्म झाँक रही थी। ओंठों पर अनुराग बिखर रहा था। इसके बाद से दो दिन तक लाख कोशिश करने पर भी मुझे उम्मी के दर्शन न हो सके। वह मेरी आवाज सुनते ही न जाने किधर छिप जाती। मुझे जान पड़ता कि सभी मेरा परिहास करना चाहते हैं। इसलिए स्वयं जहाँ वह होती वहाँ जाने में मुझे झिझक होती थी। फिर भी मुझे एक बेचैनी-सी रहती थी। जान पड़ता कि कुछ खो गया है। अंत में मैंने एक उपाय सोचा मैंने उसके छोटे भाई को पकड़ा। उसके लिए मैं चाकलेट खरीद लाया और दफ्ती का एक जहाज बनाया। फिर तो वह मेरे साथ बहुत हिल-मिल गया।

उसका नाम था आनन्द प्रकाश। मैंने एक दिन उससे कहा—"आनन्द मुझे यहाँ अच्छी चाय नहीं मिलती; तुम अपने यहाँ से चाय ला सकते हो।"

वह बोला—"दीदी खूब अच्छी चाय बनाती हैं, कहिए तो लाऊं।"

मैंने अनिच्छा पूर्वक कहा—"नहीं, नहीं, यहाँ लाने से तो ठंडी हो जायेगी!"

यह बोला—"फिर वहीं चलिए।"

मैंने कहा—"वहाँ? कभी नहीं।"

वह आश्चर्य से बोला—"क्यों?"

मैंने कहा—"तुम्हारी दीदी नाराज होंगी।"

"दीदी क्यों नाराज होंगी।"

"वे...शायद वह मुझे देखकर चिढ़ती हैं।"

"नहीं, ऐसी बात नहीं हो सकती।" आनन्द ने सिर हिलाकर कहा।

मैंने कहा—"नहीं, तुम लड़के हो, तुम क्या जानो। पहले दिन जब मैं तुम्हारे यहाँ गलती से चला गया था, तभी से वह मुझे मूर्ख समझती हैं। खैर, यह सब तुम अपनी दीदी से मत कहना।

"पहले दिन की बात! आनन्द हँसने लगा। वह तो मेरी ही शरारत थी। नहीं, नहीं, दीदी आपसे चिढ़ती नहीं है।"

मैंने गम्भीरतापूर्वक कहा—"तुम क्या जानो।"

थोड़ी देर बाद आनन्द चला गया। शाम को मैं पैर में मलहम लगाकर पट्टी बाँध रहा था। पैर में जरा चोट आ गई थी। इतने में ही एक आदमी आकर बोला—"हुजूर, आपको बिभू बाबू का नौकर बुला रहा है।"

मेरा जी सन्न हो गया। आनन्द ने जाकर कहीं बिभू बाबू से तो नहीं कह दिया। मैंने पूछा—"बिभू बाबू क्या कह रहे हैं?"

"मैच देखने जा रहे हैं।"

मैंने कहा—"पैर में चोट है, मैं तो देखने नहीं जा सकता।"

आदमी चला गया पर थोड़ी देर में लौट आया और बोला—"बिभू बाबू आपको चाय पीने के लिए बुला रहे हैं।"

मैंने कहा—"चलो, आता हूँ।"

आदमी चला गया। मैं तैयार होने लगा। फिर भी डर रहा था कि कहीं ऐसा न हो कि आनन्द ने उन्हीं से सब कुछ कह दिया हो। वे मन में क्या समझेंगे। इसका तो पहले मैंने ख्याल ही नहीं किया था। अब मैं कपड़े की तजवीज करने लगा। क्या पहनूँ, किन्तु इससे भी कठिन समस्या यह थी कि क्या न पहनूँ। पड़ोसी के यहाँ से बुलावा आने पर चाय पीने जाने के लिए ठीक कपड़े की तजवीज करना उतना आसान न था जितना जान पड़ता है। खैर, किसी तरह कुर्ता, धोती, चप्पल पहन कर, रिस्ट वाच लगाकर और कुर्ता के पाकेट में फाउण्टेन पेन डाल कर मैं चला।

बिभू बाबू चाय पी रहे थे; बोले—"वेरी सौरी कुमुद बाबू, स्कूल में इम्तहान हो रहा था, इसलिए मैं इतना व्यस्त था कि आपकी कुछ भी खातिरदारी न कर सका। बैठिए, ओहो, पैरों में जख्म हो गया है क्या?"

"हाँ, जरा चोट लग गई है।"

'माफ कीजिए, मैं इतना बिजी था कि......"

मैंने बात काट कर कहा—"वाह! यह तो अपना घर है। खातिर-दारी की कौन-सी बात है।"

"आनन्द, यह देखो, कुमुद बाबू आये हैं। कुमुद बाबू, आज बहुत अच्छा फुटबाल मैच है। बाहर की टीम आयी हुई है। आप तो नहीं चल सकते हैं।"

मैंने कहा—"अफसोस है, मैं तो नहीं जा सकता। लेकिन शायद टाइम तो हो गया।"

बिभू बाबू ने कहा—"हाँ, टाइम तो हो गया।"

मैंने कहा—"फिर आप चलिए। मैं चाय पी लूँगा, आनन्द तो है ही।"

बिभू बाबू चले गए। मेरे जी में जी आया। खैर, उन्हें कुछ नहीं मालूम। मैं अखबार उठाकर अनमना-सा पढ़ने लगा। इतने में चाय की ट्रे लेकर उम्मी ने कमरे में प्रवेश किया। मैं कुर्सी से उठ कर खड़ा हो गया।

"बैठिये"—उम्मी ने मधुर स्वर में कहा—"बड़े आश्चर्य की बात है कि आपको यहाँ की चाय अच्छी नहीं लगती।"

"यह आपको कैसे मालूम कि मुझे यहाँ की चाय नहीं अच्छी लगती?"

"मेरे मालूम होने के लिए ही तो आपने आनन्द से कहा था।"

"नहीं, मैंने तो उसे मना कर दिया था न।"

"छोटों बच्चों को मना करने का अर्थ क्या होता है? उम्मी ने प्याला बढ़ाते हुए कहा।"

"लेकिन मैंने…मैंने तो उसे…"

"अच्छा, मैं मनोरमा से पूछूँगी कि वह ऐसी खराब चाय क्यों बनाती है।" उम्मी ने शक्कर डालते हुए कहा।

"नहीं, नहीं ईश्वर के लिए मनोरमा से न कहना। किसी से न कहना वे…वे बड़े शरारती हैं।" उम्मी खिलखिला कर हँस पड़ी।

"कुमुद बाबू"—उसने कुछ गम्भीर होकर कहना शुरू कर दिया। "उस दिन तुमसे बड़ी गलती हो गई।"

मैं चुप रहा।

"आनन्द बड़ा शरारती है तुम्हें को बेवकूफ बनाने के लिए उसने मजाक किया।"

"लेकिन बेवकूफ बना मैं।"

"मुझे इसका सख्त अफसोस है।"

मैं कुछ नहीं बोला। थोड़ी देर चुप रह कर वह फिर बोली—"आप ताश बहुत अच्छा खेलते हैं। उस दिन वाला नया रूल…"

"मुझे भी उसका सख्त अफसोस है।" मैंने गम्भीरतापूर्वक कहा। उसके ओठों पर मुस्कुराहट नाच उठी।

"तो क्या आप मुझसे बदला चुका रहे थे?"

"नहीं," मैंने रुक कर कहा—"मैं झगड़ना चाहता था।"

"हूँ।" चाय की खाली प्याली ट्रे में रख कर वह चली गई। मैं जाने की तैयारी करने लगा। इतने में ही वह फिर लौटी—"जा रहे हैं क्या।"

"हाँ, कितने ही काम हैं। आप आजकल आती क्यों नहीं?"

"आती तो हूँ।"

"लेकिन…मैं तो नहीं देखता।"

"हाँ…"उसने पैर के अँगूठे से मिट्टी खोदते हुए कहा।

"लेकिन मैं तो यहाँ बहुत दिनों तक नहीं रहूँगा। शादी के बाद ही चला जाऊँगा और फिर इससे उन लोगों को शरारत करने का और भी मौका मिल सकता है।"

मैं इतना एक साँस में ही कह गया और फिर उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही चल दिया। रास्ते में घूम कर देखा। उम्मी दरवाजे पर प्रतिमा की तरह खड़ी थी। किसी को पता न चले, इसलिए मैं जल्दी से घर लौट आया।

रात को बहुत देर तक मैं सो नहीं सका। घटनाएँ जो रुख पकड़ रही थीं, उनका मैंने अनुमान भी न किया था। मैं एक नयी वेदना, एक अनजान बेचैनी का अनुभव करने लगा। सबसे बड़ी विचित्रता तो यह थी कि दोनों ही एक दूसरे के मन की बातें समझ रहे थे। फिर भी कहना कोई नहीं चाहता था। पहले पहल मुझे मालूम हुआ कि उलझन सिनेमा के पर्दे पर ही नहीं, रोजमर्रा के जीवन में भी हो सकती है।

शादी के दिन नजदीक आने लगे। घर स्त्रियों और रिश्तेदारों से भरने लगा। मुझे दम मारने की भी फुरसत न मिलती। सारा इन्तजाम मेरे ही सिर था। जितने लोग आये थे, उसमें बहुत बड़ी संख्या ऐसों की थी जिनका एकमात्र काम था प्रबंधकर्त्ता की नुक्ताचीनी करना। ऐसेम्बली की कांग्रेस बेंचे भी उनके सामने मात थीं, दूसरा दल उन लोगों का था जो शादी व्याह के मौकों को आमोद-प्रमोद की चीज समझते हैं। ताश, शतरंज, हारमोनियम, ग्रामोफोन के सिवाय, उनके लिए दुनिया में और कोई काम नहीं था। बारात में नाच होगा या नहीं, आतिशबाजी रहेगी या नहीं, उनके लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण काम यही था। मैं इन सभी लोगों से कोसों दूर रहने की कोशिश करता था। चाची जी के आने का कोई ठिकाना न था। फूफा जी को अस्पताल से फुरसत ही न मिलती थी। दूसरे उनके मरीजों की संख्या इतनी अधिक थी कि इच्छा रहते हुए भी कोई प्रबंध अपने हाथ में न ले सकते थे। फलतः सारी जिम्मेदारी मेरे सिर थी। अगर किसी को खाना समय पर न मिला तो मेरा दोष, बारात के लिए किसी चीज का इन्तजाम करना है तो मैं ही करूँ, लेने देने की चीज मँगानी हो, तो मैं मँगाऊ। फुआ जी की तबियत कुछ खराब हो गई थी इसलिए भीतर का प्रबंध उम्मी के जिम्मे था। उसकी भी वही व्यवस्था थी। जो मेरी। दिन में हम लोग सैकड़ों बार मिलते, लेकिन बातें बहुत कम होती। जो कुछ होती, काम के ही विषय में। केवल एक बार मुझे याद है, उसने कहा था—"कुमुद बाबू, इतनी मेहनत कीजियेगा तो मुझे डर है कि कहीं आपकी तबियत न खराब हो जाय।"

"मैं भी आपसे यही कहने वाला था।" मैंने उत्तर दिया।

"फिर कहा क्यों नहीं?" उसने मुस्कुरा कर पूछा।

"मैं कहने ही आया था, तब तक आपने कह दिया।"

"झूठी बात।" वह हँस कर चली गई। मैं भी अपने काम में लग गया।

नौशे को देने के लिए सूट बनवाना था। बड़ी खोज के बाद मन लायक कपड़ा मुझे मिला। कपड़ा दर्जी को दिया गया। दर्जी खुद जाकर नौशे साहब की नाप ले आया। शादी के दो दिन पहले कपड़ा तैयार होकर आया। कपड़ा अच्छा सिला था। मुझे पसन्द आया। सभी ने करीब-करीब पसन्द किया। कपड़ा लेकर बुआ जी को दिखला रहा था, इतने में उम्मी पहुँची। बुआ जी ने कहा—"देख तो उम्मी, कपड़ा ठीक सिला है या नहीं।"

उम्मी ने समालोचक की दृष्टि से सारे कपड़ों को देखा। फिर बोली—"ठीक तो है, लेकिन यह आस्तीन चढ़ जायेगी।"

"आपने कैसे समझ लिया?" मैंने पूछा।

"जिसकी धारी इतनी चौड़ी हो, मुमकिन नहीं कि उसकी बाँह इतनी पतली हो जितनी यह है। यह जरूर तंग होगा।"

"लेकिन आपको जानना चाहिए कि दर्जी खुद जाकर वहाँ से उनकी नाप लाया है।"

"तो इससे क्या? दर्जी गलतियाँ नहीं करते?"

"यह दर्जी बहुत होशियार है।"

"होशियार लोग ही बेवकूफी किया करते हैं।" उसने भौंहें टेढ़ी करके कहा। यह कटाक्ष मेरे ऊपर था। मैं झल्ला उठा; बोला—"खैर, वक्त आने पर मालूम हो जायेगा कि कौन बेवकूफ है।"

उसने कोट की तह लगाते हुए कहा—"लेकिन अफसोस तो उसका है कि ऐन मौके पर यदि कोट फिट न हुआ तो दर्जी बेवकूफ न बनेगा, बनेंगे आप।"

"और अगर फिट हो गया तब?"

"तब मैं अपने को बेवकूफ मान लूँगी।"

"लेकिन महज बेवकूफ बनने में किसी का बिगड़ता ही क्या है?"

"ऐसी बात? तो मैं इस बात पर बाजी लगा सकती हूँ कि यह कोट नौशे के फिट न होगा।"

"फिट न होने का मतलब ?"

"मतलब यह कि या तो सीने से ढीला होगा और नहीं तो आस्तीन से तंग ।"

"अच्छी बात है बाजी रही ।"

"कितने की ?"

"दस-दस रुपये की ।" मैंने तैश के साथ कहा ।

"मंजूर । मगर…"

"अब मगर क्या ?"

"मगर जो देगा वह रुपया नहीं देगा, दस रुपया की कोई चीज दे देगा ।"

"खैर, एक ही बात है ।" मैंने कपड़े बक्स में रखते हुए कहा ।

"बुआ जी आप गवाह रहियेगा ।"

बुआ जी ने कहा—"उम्मी, मुझे डर है कि कुमुद जीत जायेगा । दर्जी खुद वहाँ जाकर नाप लाया था और कपड़ा सीने में बहुत होशियार है ।"

उम्मी ने सिर हिलाकर कहा—"खैर, मैं एक नयी बात सीख जाऊँगी ।"

इसके बाद उम्मी से बातें करने का अवसर मुझे बहुत कम मिला । काम की भीड़ बहुत बढ़ गई । नियत समय पर बरात आयी । दो दिन तक खूब चहल-पहल रही । मेरे लिए खाना और सोना दोनों हराम हो गया । इतनी मेहनत पड़ी कि हरारत-सी हो आई । चाचा जी आखिर तक नहीं आ सके । इसलिए मुझे ही सब निभाना पड़ा । खुशी सिर्फ एक ही बात की थी कि मनोरमा के लिए दूल्हा बहुत अच्छा मिला था—पढ़ा-लिखा, सुन्दर, सुशील और हृष्ट-पुष्ट जो देखता वही मुग्ध हो जाता । आखिर बारात रुखसत होने का दिन आया । भीतर दूल्हे की विदाई हो रही थी, बाहर मिलनी की तैयारियाँ हो रही थीं । मैं मशीन

की तरह चारों ओर नाच रहा था। इतने में ही मुन्नू आ पहुँचा—"भैया जी, आपको अम्मा जी बुला रही हैं।"

मैंने कहा—"ठहरो, अभी फुरसत नहीं है।"

मुन्नू बोला—"बहुत जरूरी काम है, अभी चलिए।"

"क्या काम है?"

"चलिए, वहीं मालूम होगा।"

मैं झल्लाया हुआ भीतर आया—"क्या काम है?"

बुआ जी ने कहा—"कुमुद, बड़ी मुश्किल हुई, लड़का कोट पहनता ही नहीं।"

"क्यों?"

"जाओ पूछो।"

मैं नौशे के पास गया। पूछा—"क्यों हुजूर, अब क्या देर है? कोट क्यों नहीं पहनते?"

"क्या पहनूँ, यह तो एकदम तंग होता है।"

"तंग? कहाँ पर?"

"आस्तीन के पास।"

"लेकिन दर्जी तो आपकी नाप लाया था?"

"लाया तो था; लेकिन देखिए, गलत थोड़े ही बोल रहा हूँ।"

कोट सचमुच आस्तीन के पास तंग हो रहा था, ऐसा कि बेचारा पहन ही नहीं सकता था। अब क्या हो? इतनी जल्दी मरम्मत भी तो नहीं हो सकती थी। वहाँ मिलनी की तैयारियाँ हो रही थीं। इसी समय उम्मी पहुँच गई।

बोली—"कुमुद बाबू, अब क्या करना होगा। बात तो बड़े बेमौके हुई।"

बड़ी मुश्किलों से वह अपनी हँसी रोक पा रही थी। मैंने कहा—"होगा क्या तुम्हारा सिर।"

इतने में नौशे ने कहा—"भाई साहब, रहने दीजिए, इस समय मैं अपना ही कोट पहने लेता हूँ। पीछे देखा जायेगा।"

मैंने कहा—"धन्यवाद, बहुत-बहुत धन्यवाद।"—कह कर मैं ऐसा भागा कि पीछे घूमकर देखा भी नहीं।

बारात चली गई। सम्बन्धी लोग भी एक-एक करके चले गए। केवल मैं रह गया था। मनोरमा के चले जाने से बुआ जी बहुत उदास हो गई थीं। उन्होंने मेरे साथ चलने की इच्छा प्रकट की। फूफा जी भी राजी हो गए। मेरे लिए अब कोई बाकी न था। उम्मी भी बहुत कम आती थी। मुझे इतना उदास लगता कि जी चाहता कहीं बैठकर रोयें।

एक दिन तड़के मेरी नींद टूट गई। घर के सभी लोग सोये हुए थे। मैं बिछावन पर पड़ा न रह सका। सोचा, उठकर जरा घूम आयें। टहलता हुआ मैं तालाब की ओर चला गया। वहाँ देखा, उम्मी एकाग्र चित्त से मछलियों को आटे की गोलियाँ खिला रही थी। मैं उसके पास चला गया। उसने सर का आँचल ठीक करते हुए कहा—"नमस्ते!"

"नमस्ते!" थोड़ी देर तक हम दोनों चुप रहे। फिर मैंने पूछा—"कई दिनों से इधर मैंने आपको देखा नहीं।"

"इधर बाबू जी की तबियत कुछ खराब हो गई थी। घर में कोई दूसरा नहीं है। इसलिए..."

"मुझे तो मालूम नहीं हुआ...क्या हुआ था?"

"बुखार।"

"अब कैसे हैं?"

"अच्छे हैं।" थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद फिर उसने कहा—"आप लोग कल जा रहे हैं?"

"जी नहीं, आज ही शाम को जा रहे हैं।"

"आज ही ?"

"जी हाँ ।"

"हम लोग भी एक हफ्ते में घर चले जायेंगे ।"

"आपका घर किस जिले में है ?"

"कानपुर जिले में । गर्मी की छुट्टियों में बाबू जी झाँसी जायेंगे और फिर शायद वहीं रह जायँ ।"

"क्या वहाँ कोई काम मिल रहा है ?"

"सुना तो है ।"

"फिर···फिर तो आप लोग यहाँ नहीं आइयेगा ?"

"कैसे आ सकेंगे ?"

थोड़ी देर तक दोनो चुप रहे । फिर मैंने कहा—"आपका परिचय प्राप्त करके मुझे बड़ी खुशी हुई । मैं आजीवन उसे याद रखूँगा ।"—वह कुछ नहीं बोली, केवल सिर थोड़ा और झुका लिया ।

गोलियाँ खतम हो गईं । वह उठ खड़ी हुई । मैंने कहा—"एक बात है, अगर मुझसे कोई गलती हो गई हो तो···तो मुझे क्षमा कर दीजियेगा ।" उसने विषाद की हँसी हँसते हुए कहा—"यह तो मुझे आपसे कहना चाहिए ।" "जरा अपनी अँगुली बढ़ाना तो ।" कह कर उसके उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही मैंने अपनी अँगुली से अनमोल अँगूठी निकालकर उसकी अँगुली में पहना दी । वह कांप उठी ।

"यह···यह क्या ?"

"हम लोगों की बाज़ी—मैं हारा, आप जीतीं ।"

"लेकिन मैं यह अँगूठी नहीं पहनूँगी ।"

"आपको लेनी ही पड़ेगी । यही तो शर्त थी कि रुपये के बदले में कोई चीज देनी होगी ।"

"लेकिन···इस पर···तो··· R. खुदा है । कोई देख लेगा तब ?"

"मैं कुछ नहीं जानता, यह अँगूठी आपको लेनी ही होगी। चलिए, आपके पिता जी को देख आऊँ।" वह चुप हो गई। रास्ते में फिर कोई नहीं बोला।

शाम को जाने की तैयारी होने लगी। उम्मी जाकर बुआ जी से मिल आई। मुन्नू कह रहा था कि दोनों खूब रोईं। बुआ जी रोते-रोते बेहोश हो गईं। अंत में घोड़ागाड़ी स्टेशन ले जाने के लिए आयी। बुआ जी और बच्चो के साथ मैं भीतर बैठा। मुन्नू कोच बक्स पर बैठा। गाड़ी चल दी। मैंने देखा उम्मी दरवाजे पर पाषाण-प्रतिमा तरह खड़ी है। गाड़ी पक्की सड़क पर आकर घूम गई। फिर मैं कुछ देख नहीं सका। पलकों के नीचे आँसू कुहासे की तरह फैल गए।

इसके बाद तीन महीने बीते। फूफा जी का पत्र आया कि बिलासपुर से उनका ट्रांसफर दूसरी जगह हो गया। बिभू बाबू के विषय में उन्होंने लिखा है कि वह झाँसी चले गए। वहाँ उन्हें कोई अच्छी-सी नौकरी मिल गई है। इसके बाद मेरे अध्ययन का प्रश्न उठा। आगे क्या पढ़ा जाय? सब की राय थी कि मैं विलायत जाऊँ। अंत में मुझे भी यही मानना पड़ा और सितम्बर महीने में विलायत के लिए रवाना हो गया।

× × ×

तीन साल बाद मैं घर लौटा। ऑक्सफोर्ड से बी० ए० की डिग्री ली। काफी प्रसिद्धि हो गई। लौटने पर कालेज में प्रोफेसरी भी मिल गई। मेरा संसार बहुत कुछ बदल गया था। दोस्त-मित्र सभी बदल गए थे। विचार धारायें भी बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। अतीत की बातें स्वप्न की भाँति लगती थीं।

अंत में ब्याह की बातें चलने लगीं। विवाह के विषय में मेरे विचार बड़े ऊँचे थे। लड़की ग्रेजुएट तो जरूर होनी चाहिए। सुन्दरी खूब हो। स्वस्थ भी हो। संगीत ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। तिलक,

दहेज की कोई चिन्ता नहीं। बहुत जगहें बातें चलने पर अंत में एक जगह शादी तै हुई। लड़की फोर्थ ईयर में पढ़ती थी। अत्यन्त सुन्दरी थी और नृत्यकला में यकता थी। मैंने उसे पसन्द किया। मित्रों ने बधाइयाँ दीं, मनचले लड़कों ने दावत की फरमाइश की। मैं मन-ही-मन फूला न समाता था।

शादी हो गई। मैं सालियों से बातें कर रहा था। इतने में किसी ने कहा, सबसे इनका परिचय करा दो। मुझे सबका परिचय दिया जाने लगा। अंत में मेरी साली ने कहा—"ये हैं आपकी सबसे छोटी सरहज।"

"कौन...उम्मी...और वह भी...विधवा के वेष में?"

मुझे बिजली-सी मार गई। लेकिन उम्मी ने मुझे पहले ही पहचान लिया था। उसके ओठों पर सूखी-सी मुस्कान लोट गई। आँखों में आँसू छलछला आये। और...और...फिर मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। उसके बाद मुझे याद नहीं क्या हुआ। कब रुखसती हुई और कब मैं घर पहुँचा।

चाँदनी रात थी। छत पर मैं लेटा था। मेरी पत्नी ने कहा—"लाओ तुम्हारे सिर में तेल डाल दें।"

मैंने कहा—"नहीं, रहने दो।"

उसने चिन्तित होकर कहा—"तुम इस तरह उदास क्यों रहते हो।"

उसका हाथ अपने हाथ में लेकर मैंने कहा—"कुछ नहीं।"

अचानक उसकी ऊँगली में इनामेल की एक अँगूठी झलक उठी मुझे जान पड़ा मानो मैंने बिजली का तार छू लिया हो।

"तुमने यह अँगूठी कहाँ पायी? क्या खरीदी है?"

"नहीं।"

"फिर।"

"यह उम्मी भौजी ने मुझे दी है।"

"उन्होंने ...तुम्हें ?"

"जिस दिन मैं आ रही थी, उसी दिन हम लोगों ने एक बाजी बदी थी। मैं जीती...वे हारी। बस यही अँगूठी उन्होंने मुझे दे दी।"

चार साल पहले के दृश्य मेरी आँखों के सामने घूम गए। मेरी स्त्री ने पूछा—"क्यों, क्या इसमें कोई खास बात है।"

मैंने स्वप्न की तरह कहा—"नहीं, योंही।"

थोड़ी देर चुप रह कर उसने पूछा—"क्या सोचते हो !"

मैंने कहा—जिन्दगी जुए का एक खेल है। इसकी प्रत्येक घटना एक बाजी है। शादी-ब्याह, जन्म-मरण, सब कुछ किस्मत की बात है। कब बाजी किधर पलटेगी, दाँव कैसा पड़ेगा, कोई नहीं जानता। अगर चार साल पहले...मैं चुप हो गया।

"लेकिन इस फिलासफी और इस अँगूठी से क्या मतलब ?"—उसने पूछा।

"कुछ नहीं।"

आकाश में मेघों के साथ चन्द्रमा की बाजी लगी है। छाया हो या प्रकाश।

पगडंडी

तब मैं ऐसी नहीं थी। लोग समझते हैं, मैं सदा की ऐसी ही हूँ—मोटी, चौड़ी, भारी-भरकम, क्षितिज की परिधि को चीर कर, अनन्त को सान्त बनाती, संसार के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक लेटी हुई। यह पुराना इतिहास है, कोई क्या जाने!

तब मैं न इतनी लंबी थी, न इतनी चौड़ी। न चेहरे पर ईटों की सुर्खी की ललाई थी, न शरीर पर कंकड़ों के गहने। मेरे दाएँ-बाएँ वृक्षों की जो ये कतारें देख रहे हो, वे भी नहीं थीं; न फुट-पाथ था, न बिजली के खम्भे, अप्सराओं की-सी सजी न ये दूकानें थीं न अँगूठी के नगीने की तरह ये पार्क। तब मैं एक छोटी-सी पगडंडी थी—दुबली, पतली, सुकुमार नटखट!

कब से मैं हूँ, इसकी तो याद नहीं आती; ,किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि अमराई के इस पार की कोई तरुणी, नदी से जल लाने के लिए उस पार गई होगी। जैसे किसी छोटी-सी नगण्य घटना के बाद किसी प्रथा का जन्म हो जाता है और उसके बाद एक धर्म भी निकल पड़ता है, उसी तरह एक तरुणी के जल भर लाने के बाद गाँव की सारी तरुणियाँ घड़े में जल लेकर अटकती, इठलाती एक ही पथ से आती रही होंगी और फिर वहीं से मेरे जीवन की कहानी बह निकली।

मेरे अतीत के आकाश के दो तारे अब भी मेरे जीवन के सूनेपन की अँधियारी में झलमला रहे हैं। यों तो सारी अमराई, सारा गाँव मेरे परिचितों से भरा था, किन्तु मेरी घनिष्टता थी केवल दो जनों से, एक थे बट दादा और दूसरा था रामी का कुआँ।

बट दादा अमराई के सभी वृक्षों में बूढ़े थे और सभी उन्हें श्रद्धा तथा आदर से बट दादा कहा करते थे। थे तो वृद्ध, किन्तु उनका हृदय

बालकों से भी सरल और युवकों से भी सरस था। अमराई के कुलपति थे। उनके तपस्वियों का तेज भी था और गृहस्थों की कोमलता भी। उनकी सघन छाया के नीचे लेट कर बीते हुए युगों की वेदना और आल्हाद से भी कहानियाँ सुनना; रिमझिम-रिमझिम वर्षा में उनकी टहनियों में लुक कर बैठे हुए पक्षियों की सरस बरसाती का मजा लूटना, आज भी याद करके मैं विह्वल हो उठती हूँ।

ठीक उन्हीं से सटा हुआ रामी का कुआँ था—पक्का, ठोस, सजल, स्वच्छ, गंभीर, उदार। साँझ सवेरे गाँव की स्त्रियाँ झन्-झन् करती आतीं और अमराई को अपने कलकंठ से मुखरित करके कुएँ से पानी भर कर मुझे भिगोती हुई, चली जातीं।

मेरी चढ़ती हुई जवानी का आदि भी इन्हीं से होता है, मध्य भी इन्हीं से और अंत भी इन्हीं से। भूलने की चेष्टा करने पर भी क्या कभी मैं इन्हें भूल सकती हूँ?

मनुष्य के जीवन का इतिहास प्रायः अपने सगों से नहीं, परायों से बनता है। ऐसा क्यों होता है, समझ में नहीं आता, किन्तु देखा जाता है कि अकस्मात् कभी की सुनी हुई बोली, किंचित् मात्र देखा हुआ स्वरूप घड़ी-दो-घड़ी का परिचय, जीवन के इतिहास की अमर घटना, स्मृति की अमूल्य निधि बन कर रह जाते हैं और अपने सगों का समस्त समाज, अपने जीवन का सारा वातावरण कमल के पत्ते के चारों ओर के पानी की तरह छल्-छल् करते रह जाते हैं, उछल-पुछल कर आते हैं, बह जाते हैं, टिक नहीं पाते। मैं सोचती हूँ, ऐसा क्यों होता है, पर समझ नहीं पाती।

जेठ के दिन थे। असल दूपहरी। गरम हवा अमराई के वृक्षों में लुढ़कती फिरती थी। बट दादा ऊँघ रहे थे; एक वृक्ष में लपटी हुई दो लताओं में झगड़ा हो रहा था। मैं तन्मय हो इनका झगड़ा सुन रही थी, इतने में ही कुएँ ने पूछा—"पगडंडी, सो गई क्या?"

"नहीं तो", मैंने कहा—"इन लताओं का झगड़ा सुन रही हूँ!"

कुएँ ने हँस कर पूछा—"क्या बात है ?"

मैंने कहा—"कुछ नहीं, नाहक का झगड़ा है, दोनों मूर्ख हैं।"

कुएँ ने हँसकर कहा—"संसार में मूर्ख कोई नहीं होता है। परिस्थिति सबको मूर्ख बनाती है। इस अमराई में तुम अकेला हो, कल एक और पगडंडी बन जाय तो क्या यह सम्भव नहीं कि फिर तुम दोनों झगड़ने लग जाओ ?"

मैं तिनक गयी। बोली—"साधारण बात में भी मेरा ज़िक्र खींच लाने का तुम्हें क्या अधिकार है ?"

कुएँ ने पूछा—"उन्हें मूर्ख कहने का तुम्हें क्या अधिकार है ?"

मैंने कहा—"मैं सौ बार कहूँगी; वे दोनों मूर्ख हैं, तुम भी मूर्ख हो, सब मूर्ख हैं !"

इतने में ही बट दादा भी जग पड़े; बोले—"किसको मूर्ख बना रही हैं ?"

बात रुक गई, कुआँ चुप हो गया। दो दिन तक बोलचाल बन्द रही।

मैंने जान-बूझ कर उससे झगड़ा क्यों किया, इसे वह समझ नहीं पाया, इसलिए मुझे संताप भी हुआ और ग्लानि भी! स्त्री प्रेम से विह्वल हो जाती है और अपने उच्छ्वसित हृदय के उद्‌गारों को जब निरुद्ध नहीं कर पाती, तब वह झगड़ा करती है। स्त्री का सबसे बड़ा बल है रोना, उसकी सबसे बड़ी कला है झगड़ा करना। झगड़ा करके तिनकना, रूठ कर रोना, फिर दूसरे को रुला कर मान जाना, नारी-हृदय का प्रियतम विषय है। पुरुष चाहे कितना भी पढ़ा-लिखा हो, साहित्यिक हो, दार्शनिक हो, तत्वज्ञानी हो, यदि वह इतनी सीधी-सादी बात नहीं समझ पाता तो सचमुच मूर्ख है।

यह घटना कुछ नयी नहीं थी, नित्य की थी। कुछ छोटी-सी बात लेकर हम झगड़ पड़ते, आपस में कुछ कह-सुन लेते, फिर हफ्तों एक दूसरे नहीं बोलते। किन्तु वह बात किसके लिए मैं सब कुछ करती, सारा झगड़ा करती; कभी नहीं होती। कुआँ मुझे कभी नहीं मनाता था। अंत में हार कर मुझे ही बोलना पड़ता, तब वह बोलने लगता मानो कुछ हुआ ही नहीं। मैं मन-ही-मन सोचती, यह कैसा विचित्र जीव है कि न तो इसे रूठने से कोई वेदना होती है और न मानने से कोई आह्लाद। स्वयं भी नहीं रूठता, केवल चुप ही रहता है; बोलती हूँ तो फिर बोलने लगता है, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। हे ईश्वर! अपनी रचना की हृदय-हीनता की सारी थैली क्या मेरे ही लिए खोल रखी है।

इस घटना पर मैंने विशेष ध्यान नहीं दिया। किन्तु वह बात रह-रह कर मेरे कानों में गूँज उठती—"इस अमराई में तुम अकेली हो, कल एक और पगडंडी बन जाय तो क्या यह सम्भव नहीं कि फिर तुम दोनों भी झगड़ने लग जाओ?" इसका प्रतिवाद मैंने कैसे किया? उससे झगड़ा किया, उसे मूर्ख बनाया। कुआँ समझता है कि मैं स्त्री हूँ और स्त्री जाति की कमजोरी मेरी भी कमजोरी है। इसका प्रतिवाद करने के बदले मैं स्वयं तर्क का प्रतिपादन कर लेती हूँ, फिर मूर्ख मैं हुई या वह?

मुझे रह-रह कर अपनी निर्बलता पर क्रोध आ जाता। यदि उसे मेरे लिए सहानुभूति नहीं, मेरे रूठने की कोई चिन्ता नहीं, मुझे मनाने का आग्रह नहीं, तो फिर मैं क्यों उसके लिए मरने लगी। यदि वह हृदय-हीन है, तो मैं भी हृदयहीन बन सकती हूँ। यदि वह आत्म-निग्रह कर सकता है, तो मैं भी अपने आप पर संयम रखना सीख सकती हूँ। मैंने कसम खायी कि उससे फिर रूठूँगी ही नहीं और यदि रूठूँगी तो फिर बोलूँगी नहीं, चाहे जो भी हो, प्रेम के लिए स्त्रीत्व को कलंकित नहीं करूँगी।

एक दिन की बात है। आश्विन का महीना था। बरसात अभी-अभी बीती थी। न कीचड़ थी, न धूल। छोटी हरी घासों और जंगली फलों के बीच से होकर मैं अमराई के इस पार से उस पार तक लेटी थी। सघन हरियाली के बीच में मुझे देख कर जान पड़ता मानो किसी कुमारी कन्या की सीमंत हो। शरद मेरे अंग-अंग में प्रतिबिंबित हो रहा था। मैं कुछ सोच रही थी, सहसा कुएँ ने कहा—"पगडंडी सुनती हो ?"

मैंने अन्यमनस्क होकर कहा—"कहो।"

उसने कहा—"तुम दिनोदिन मोटी होती जा रही हो।"

मैं कुछ नहीं बोली।

कुछ ठहरकर वह फिर बोला—"तुम पहले जब दुबली थी, अच्छी लगती थी।"

मैंने कहा—"अगर मैं मोटी हो गई हूँ, तो केवल तुम्हे अच्छी लगने के लिए तो मैं दुबली होने की नहीं !"

कुएँ ने कहा—"यह तो मैंने कहा नहीं कि दुबली होकर तुम मुझे अच्छी लगोगी।"

मैंने पूछा—"तब तुमने कहा क्या ?"

उसने कहा—"कवियों का कहना है कि दुबलापन स्त्रियों के सौन्दर्य को बढ़ा देता है। मोटी होने से तुम कवियों को सौन्दर्य को परिभाषा से दूर हट जाओगी।

मैंने खीझकर पूछा—"तुम तो अपने को कवि नहीं समझते न ?"

उसने कहा—"बिल्कुल नहीं।"

मैंने कहा—"फिर मोटी हो जाने पर मैं कवियों को अच्छी लगूँगी या बुरी इससे तुम्हें मतलब !"

उसने शांत भाव से कहा—"कुछ भी नहीं, केवल यही कि मैं उस परिभाषा को जानता हूँ और उसे तुम्हें भी बतला देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।"

मैंने गम्भीर होकर कहा—"धन्यवाद ।"

स्त्री, यदि सचमुच ही स्त्री है, तो सब कुछ सह सकती है, पर अपने रूप का तिरस्कार नहीं सह सकती । स्त्री चाहे घोर कुरूपा हो, फिर भी पुरुष को उसे कुरूपा कहने का कोई नैतिक अधिकार नहीं । स्त्री का स्त्रीत्व ही संसार का सबसे महान् सौन्दर्य है और उसके प्रति असुन्दरता का संकेत करना भी उसके स्त्रीत्व को अपमानित करना है । स्त्री के रूप का उपहास करना वैसा ही है जैसा पुरुष को कायर कहना । मैं समझ गई कि कुआँ मुझ पर मार्मिक आघात कर रहा है, परिहास नहीं, उपहास करना चाहता है । मैंने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की कि चाहे अंत जो भी हो, मैं आज से युद्ध प्रारम्भ करूँगी ।

उसी दिन रात को चाँदनी खिली थी । रजनीगंधा के सौरभ से अमराई मस्त होकर झूम रही थी । बट दादा पक्षियों को सुलाकर अपने भी सोने का उपक्रम कर रहे थे; बोले—"सो गई बेटी ?"

मैंने कहा—"नहीं दादा, ऐसी चाँदनी क्या सदा रहती है ? मेरे तो जी में आता है कि जीवन भर ऐसे ही लेटे-लेटे चाँद को देखती रहूँ ।"

इतने ही में कुआँ बोला—"दादा, अमराई के ब्याह के गीत अभी से गाने शुरू करवा दो ।"

दादा ने पूछा—"कैसा ब्याह ?"

उसने कहा—"देखते नहीं, प्रेम का पहला चरण प्रारम्भ हो गया, दूसरे चरण में कविताएँ बनेंगी, तीसरे चरण में पागलपन का अभिनय होगा, चौथे चरण में सगाई हो जायेगी ।"

मुझे मन-ही-मन गुदगुदी-सी जान पड़ने लगी । सोचा, आज इसे खिझाऊँगी । मैंने हँसकर कहा—"दादा देखो अपने-अपने भाग्य की बात है । ईश्वर ने तुम्हें इतना ऊँचा बनाया है । तुम अपनी असंख्य अँगुलियों से सूर्य और चंद्रमा की किरणों का अजस्र पान करते हो ।

दिगदिगंत से आती हुई वायु में स्नान करके विस्तृताकाश में सिर उठा कर प्रकृति की अनंत विभूतियों का अनुशीलन करते हो। नक्षत्रों से भरी हुई रात में शत-शत पक्षियों को गोद में लिये हुए तुम चंद्रलोक की कहानी सुना करते हो, उषा और गोधूलि नित्य तुम्हें स्नेह से चूम लिया करते हैं, प्रकृति का अनंत भंडार तुम्हारे लिए उन्मुक्त है। मैं तुम्हारे जैसी ऊँची तो नहीं हूँ फिर भी दूर तक फैली हूँ। वसुन्धरा अपनी सुषमा मेरे सामने बिखेर देती है, आकाश सूर्य और चंद्रमा की किरणों का जाल मेरे ऊपर फैला देता है। वसंत की मादकता, सावन की सजल हरियाली और शरद् की स्वच्छ सुषमा मेरे जीवन में स्फूर्ति प्रदान करती रहती है। मैं केवल जीती ही नहीं, जीवन का उपभोग भी करती हूँ। किन्तु मुझे दुःख उन लोगों को देखकर होता है जिन्हें न तो सूर्य का प्रकाश मिलता है, न चंद्रमा की किरणें, अंधकार ही जिनके जीवन की भित्ति है और सूनापन ही जिनकी एक कहानी है। वे आकाश को उतना ही बड़ा समझते हैं जितना उनके भीतर समाता है, वसुन्धरा को उतनी ही दूर तक समझते हैं जितना वे देख सकते हैं। दादा! उनका अस्तित्व कैसा दयनीय है, तुमने कभी सोचा है?"

दादा कुछ नहीं बोले, शायद सो गए थे। लेकिन कुआँ बोला— "सुन रहे हो दादा? पगडंडी कितना सच कह रही है! ऐसे लोगों से अधिक दयनीय जीवन किसका होगा? कुछ दिन पहले मैं भी यह सोचा करता था, किन्तु मुझे जान पड़ा कि संसार में और भी अधिक दयनीय जीवन हो सकता है। ईश्वर ने जिसे सूर्य और चंद्रमा के आलोक से वंचित रखा, आकाश का विस्तार तथा वसुन्धरा का वैभव जिसे देखने नहीं दिया, उस पर दया करके कम-से-कम उसे एक चीज दे दी जिससे वह संसार का उपकार कर सकता है, जिसे वह अपना कह सकता है, जिसके द्वारा वह संसार का किसी-न-किसी रूप में लक्ष्य बन सकता है, किन्तु उससे अधिक दयनीय तो वे हैं जिनके सामने सृष्टि का सारा

वैभव बिखरा पड़ा है, किन्तु जिनके पास अपना कहने को कुछ भी नहीं। रेखागणित की रेखा की तरह उनका अस्तित्व तो है, किन्तु उनकी मोटाई, लंबाई, चौड़ाई सब कुछ काल्पनिक है। उनका अस्तित्व किसी दूसरे के अस्तित्व में अन्तर्निहित है ! वे सभी के साधन हैं, किन्तु लक्ष्य किसी के भी नहीं। ऐसे लोग भी दुनिया में है। दादा, क्या उन पर तुम्हें दया नहीं आती ?"

दादा बिल्कुल सो गए थे। मैंने तैश में आकर कहा—"रामी के कुएँ, यदि तुम समझते हो कि तुम संसार के लक्ष्य हो और मैं केवल साधन-मात्र, तो यह तुम्हारी भूल है। संसार में जो कुछ है साधन ही है, लक्ष्य कुछ भी नहीं। लक्ष्य शब्द मनुष्य की उलझी हुई कल्पना का फल है। लक्ष्य एक भावना-मात्र है। स्थूल और प्रत्यक्ष रूप में जिस किसी का अस्तित्व है, वह साधन ही है, चाहे जिस रूप में हो।"

कुएँ ने गम्भीर स्वर में कहा—"तुमने हमारा नाम लेकर पुकारा इसके लिए धन्यवाद। मैं उत्तर में केवल दो बातें कहूँगा। पहली तो यह कि हमारा और तुम्हारा कोई अपना झगड़ा नहीं है, मैं समझता हूँ, व्यक्तिगत रूप से न तुमने मुझे कुछ कहा है, न मैं तुम्हें कुछ कह रहा हूँ। दूसरी बात यह है कि जैसा तुम कह रही हो, लक्ष्य और साधन में प्राकारिक अंतर न होते हुए भी परिमाणिक अंतर है। संसार में लक्ष्य नाम की कोई चीज नहीं, ठीक है, यहाँ जो कुछ है, किसी-न किसी रूप में साधन ही है, यह भी ठीक है। फिर भी मानना पड़ेगा कि साधनों में कुछ साधन ऐसी अवस्था में हैं जिहें साधन के अतिरिक्त दूसरा कुछ कहा ही नहीं जा सकता और कुछ साधन ऐसी अवस्था में पहुँच गए हैं, जिन्हें संसार अपनी सुविधा के लिए लक्ष्य ही कहना अधिक उपयुक्त समझता है। इसका प्रत्यक्ष और स्थूल प्रमाण यह है कि कुछ लोगों के यहाँ संसार आता है, हाथ फैला कर कुछ माँगता है और फिर चला जाता है। संसार की स्थूल व्यावहारिक भाषा में वे तो हुए लक्ष्य; कुछ लोग ऐसे हैं जिनके यहाँ संसार आता है, किन्तु इसलिए नहीं कि

उनमें से कुछ लेना चाहता है, बल्कि इसलिए कि उनके द्वारा वह अपने लक्ष्य के पास पहुँच सकता है। तुम्हारी सूक्ष्म दार्शनिक भाषा में ऐसे लोग हुए साधन, समझीं ?"

मैं कुछ कहना ही चाहती थी कि उसने रोक दिया; कहा—"देखो, तुम्हारी चाँदनी डूब गई, अब तो सो सकती हो या नहीं ?"

कुछ दिन और बीते। मेरे प्रेम की आग पर आत्माभिमान की राख पड़ने लगी। कुआँ संसार का लक्ष्य है, मैं केवल एक साधन हूँ। फिर मेरा उसका प्रेम कैसे हो सकता है ? मैं कभी-कभी सोचती हूँ, प्रेम में प्रतियोगिता कैसी ? मान लो, यह संसार में सब कुछ है और मैं कुछ भी नहीं, फिर भी, क्या यह यथेष्ट कारण है कि यदि मैं उससे प्रेम करूँ तो वह उसका प्रतिदान न दे। कुआँ अपने सांसारिक महत्व के गर्व में चूर है। वह समझता है कि उसके सामने मैं इतनी तुच्छ हूँ कि मुझसे प्रेम करना तो दूर रहा, भर मुँह बोलना भी पाप है। वह मुझसे घृणा करता है, मेरा उपहास करता है, बात-बात में मुझे नीचा दिखाना चाहता है ! बर्बर पुरुष जाति !

मैं दिन-दिन उससे दूर हटने की चेष्टा करने लगी। उसके सामीप्य में मेरा दम घुटने लगा। वह महत्वशाली है, संसार उसके सामने भिखारी बन कर आता है, और मैं ? मेरा तो कोई अस्तित्व ही नहीं, किसी लक्ष्य तक पहुँचने का एक साधन-मात्र हूँ। मेरी उसकी क्या तुलना ?

साँझ-सवेरे गाँव की स्त्रियाँ आतीं और पानी भर ले जातीं। अलस दुपहरी में पथिक अमराई में विश्राम करने के लिए आते और कुएँ के पानी में सत्तू सान कर खाते, फिर थोड़ी देर वृक्षों के नीचे लेट कर अपनी राह चले जाते। गाँव के छोटे-छोटे लड़के अमराई में आकर फल तोड़ते, कुएँ से पानी खींचते और फिर फल खाकर मुँह-हाथ धोकर चले जाते। जहाँ देखो उसकी चर्चा, उसकी बात। मैं अपनी नगण्यता पर

मन ही मन कुढ़ कर जली-सी जाती। मुझे जान पड़ता, मानो संसार मेरा उपहास कर रहा है, आकाश मेरा तिरस्कार कर रहा है, पृथ्वी मेरी अवहेलना कर रही है। मेरा अस्तित्व रेखागणित की रेखाओं और बिन्दुओं का अस्तित्व है। मैं सबकी हूँ, पर मेरा कोई नहीं। मैं भी अपनी नहीं, केवल संसार को किसी लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए साधन-सी बनी जी रही हूँ। मुझे यहाँ से हटना ही पड़ेगा। चाहे जहाँ भी जाऊँ, जाऊँगी जरूर। हृदय की शांति की खोज में वन-वन भटकूँगी, वसुन्धरा के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक के अनंत विस्तार को छान डालूँगी, यदि कहीं शांति नहीं मिली तो किसी मरुभूमि की विशाल सैकत-राशि में जाकर विलीन हो जाऊँगी या किसी विजन पर्वत-माला की अँधेरी गुफा में जाकर सो रहूँगी, फिर भी यहाँ न रहूँगी। यहाँ से मैं हटने का उपक्रम करने लगी।

आधी रात थी। चाँदनी और अंधकार अमराई के वृक्षों के नीचे गाढ़ालिंगन में बँधे सो रहे थे। मुझे उस रात की सारी बातें अब भी याद हैं मानो अभी ही की हों। मैं अपने अतीत जीवन की कितनी ही छोटी-छोटी स्मृतियाँ सहेज रही थी। इतने में कुएँ ने पुकारा—"पगडंडी !"

निशीथ के सूनेपन में उसकी आवाज गूँज उठी। मैं चौंक पड़ी। इतने दिनों के बाद आज कुआँ मुझे पुकार रहा है, मेरा कुतूहल उमड़ने लगा।

मैंने कहा—"क्या है ?"

कुआँ थोड़ी देर चुप रहा, फिर पुकारा—"पगडंडी !"

शायद उसने मेरा बोलना सुना ही नहीं। मुझे आश्चर्य होने लगा, क्या आज कोई अभिनय होगा ? मैंने संयत स्वर में कहा—"क्या है ?"

कुआँ बोला—"पगडंडी, मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ।"

मैंने कहा—"पूछो।"

वह बोला—"शायद तुम यहाँ से कहीं जा रही हो ?"

उस समय बिजली भी गिर पड़ती तो मुझे उतना आश्चर्य न होता ? इसे कैसे मालूम हुआ ? यदि मान लूँ कि किसी तरह मालूम भी हो गया, तो फिर इसे क्या मतलब ? मैं क्षण भर में ही न जाने क्या-क्या सोच गयी, कितने ही भावों से मेरा हृदय उथल-पुथल हो उठा, किन्तु मैंने सारा आवेग रोककर उदासीन स्वर में कहा—"हाँ।"

कुआँ थोड़ी देर चुप रहा, फिर बोला—"तुम इस अमराई से जा रही हो, अच्छा है। मैं बहुत प्रसन्न हूँ।"

मैं कुछ उत्तर देने जा रही थी, तब तक उसने रोक दिया—"ठहरो, मेरी बात सुन लो। जब तुम पहले पहल यहाँ आई थी, तब जितना प्रसन्न मैं हुआ था, उतना और कोई नहीं। आज जब तुम यहाँ से जा रही हो, तब भी जितनी खुशी मुझे हो रही है, उतनी और किसी को नहीं। तुम इसका कारण जानती हो ?"

मैं कुछ नहीं बोली।

वह कहने लगा—"मैं तुम्हे किसी दिन कहने वाला ही था। तुमने स्वयं जाने का निश्चय कर लिया। यह और भी अच्छा हुआ।"

मैंने अन्यमनस्क-सी कहा—"संसार में जो कुछ होता है, अच्छा ही होता है।"

कुआँ बोला—"पगडंडी, तुम यहाँ से जा रही हो, सम्भावना यही है कि फिर तुम लोट कर नहीं आओगी। तुम्हारे जाने के पहले मैं तुमसे अपने हृदय की एक बात, एक चिर संचित बात कहूँगा; सुनोगी तो ?"

मेरे हृदय में उस समय दो धाराएँ बह रही थीं; एक संशय की दूसरे विस्मय की। फिर भी इतना है कि संशय से अधिक मुझे विस्मय ही हुआ। मैंने सारा कुतूहल दबा कर कहा—"कहते जाओ !"

कुआँ कहने लगा—"मुझे अधिक कुछ नहीं कहना है। केवल दो बातें हैं, तुमसे कभी नहीं कहा था। इसका कारण यह है कि अब तक

कहने का समय नहीं आया था। तुम अब जा रही हो, जान पड़ता है कि वह समय आ गया, इसलिए कह रहा हूँ।"

थोड़ा रुक कर, फिर उसने अपने स्वाभाविक दार्शनिक ढंग से कहना शुरू किया—"पहली बात यह है तुम्हारे प्रति अगाध प्रेम होते हुए भी आज तक मैंने जाहिर क्यों नहीं होने दिया ? मुझे याद है, जिस दिन आकाश के ज्योतिपथ की तरह पहले पहल अमराई में आकर तुम बिछ गई, उस दिन मैंने बट दादा से पूछा—"दादा, यह कौन है ?" दादा ने विनोद से कहा—"तुम्हारी बहू !" मैं झेंप गया !

तब से लेकर आज तक युग बीत गया। कितने बसंत आये, कितनी बरसातें आयीं, इन अमराई की सघन छाया में हम दोनों ने कितनी कहानियाँ सुनीं, कितने गीत सुनकर फिर भूल गए और कितनी बार हम आपस में लड़े-झगड़े हैं। इस जीवन की छोटी से-छोटी घटना भी मेरे स्मृति-पट पर अमर रेखा बन कर खिंच गई है और उन टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं को जोड़कर जो अक्षर बनते हैं, उनका एकमात्र अर्थ यही निकलता है कि इस अमराई में छोटी, पतली-सी पगडंडी के सूने, उपेक्षित जीवन का जो निष्कर्ष है वह किसी एक युग या एक देश का नहीं, विश्व भर का अनंतकाल के लिए आलोकस्तंभ बन सकता है। वह न रहे, किन्तु उसकी कथा युग-युग तक कल्पना-लोक के विस्तृताकाश में स्त्रीत्व का आदर्श बन आकाश-दीप-सी झिलमिलाती रहेगी।

"किन्तु इतना होते हुए भी आज तक मैंने तुमसे कभी कुछ कहा क्यों नहीं ?"

"इतना ही नहीं, मैंने अब तक तुम्हारे प्रति केवल उदासीनता और कठोरता के भाव ही प्रदर्शित किये। नीरस उपेक्षा, आलोचनात्मक विनोद, इसके अतिरिक्त मुझे याद नहीं, मैं और भी तुम्हें कुछ दे सका हूँ या नहीं। किन्तु क्यों ? केवल एक ही कारण था।

"पगडंडी, मैं तुम्हें जानता था, तुम्हारे हृदय को अच्छी तरह पहचानता था। मैं तुम्हारे जीवन का दार्शनिक अध्ययन कर रहा था। मैं जानता था, संसार के कल्याण के किस अभिप्राय को लेकर तुम्हारे जीवन का निर्माण हुआ है। मैं जानता था, किस लक्ष्य को लेकर विश्व की रचनात्मक शक्ति ने तुम्हें स्वर्ग से लाकर इस अमराई की घासों और पत्तों की सेज पर सुला दिया है। मैं यह भी जानता था कि तुम्हारे अवतरण का जो अन्तर्निहित अभिप्राय है वह किस पथ पर चलकर तुम अधिक-अधिक प्राप्त कर सकती हो।

"जिस महान् उद्देश्य को लेकर तुम जन्मी हो; उसमें, मैं मानता हूँ इच्छा रहते हुए भी तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकता। किन्तु हाँ, एक बात कर सकता हूँ। गायक अपने तान को आरोह-अवरोह के बीच में नाचता हुआ ले जाकर सम पर बिठा देता है। सुनने वाले उसे सहायता नहीं दे सकते, किन्तु अंत में सम पर एक बार सिर हिला देते हैं। तान लौट कर घर आ गई, सब का सिर हिल गया। पगडंडी, अपने जीवन के उच्चादर्श को तुम्हें अकेले निभाना पड़ेगा, मैं केवल इतना ही कर सकूँगा कि जिस दिन तुम्हारे जीवन की तान लौट कर घर आ जायेगी, उस दिन उस संगीत में अपने को बहाकर सिर हिला दूँगा। तुम्हारे जीवन-संगीत के सम पर अपने को निछावर कर दूँगा, बस।

"प्रेम से स्वर्ग मिलता है, किन्तु उससे भी ऊँचा; उससे भी पवित्र एक स्थान है। उसका वही पथ है जिस पर तुम जा रही हो—सेवा प्रेम सभी कर सकते हैं, किन्तु सेवा सभी नहीं कर सकते। प्रेम करना संसार का स्वभाव है, किन्तु सेवा एक साधना है प्रेम हृदय की सारी कोमल भावनाओं का आकुंचन है, सेवा उसका प्रसार। प्रेम में स्वयं लक्ष्य बन कर अपना एक कोई लक्ष्य बनाना पड़ता है, सेवा में अपने को संसार का साधन बना कर संसार को अपनी साधनाओं की तपोभूमि बना देना

पड़ता है। प्रेम यज्ञ है और सेवा तपस्या। प्रेम से प्रेमिका मिलती है और सेवा से ईश्वर।

"जन्म से लेकर आज तक तुम सेवा के पथ पर रही हो और अब भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हो। तुम्हारे मार्ग में जो सबसे बड़ा विघ्न बनकर खड़ा हो सकता है वह प्रेम मनुष्यत्व है और सेवा देवत्व। तुम्हारी आत्मा नैसर्गिक होते हुए भी तुम्हारा शरीर भौतिक है। आत्मा और शरीर का द्वन्द्व संसार की अमर कहानी है। बसंत जब अपना मधुकलश पृथ्वी पर उँडेल देता है, वर्षा जब वन-वन में हरियाली बिखरा देती है, शरद के शुभ्राभ्र-खण्ड जब आकाश में तैरने लगते हैं, तब आत्मा की साधनाओं में शरीर छोटे-छोटे सपने छींट देता है; सामवेद की मधुर गंभीर ध्वनि में मेघ-मलार की मस्तानी तानें भीग जाती हैं, सोमरस में कदम्ब की बूँद चू पड़ती है, कैलास में बसंत आ जाता है। यह बहुत पुरानी कथा है। युगयुगांतर से यही होता आया है और यही होता रहेगा। फिर भी सभी इसे भूल जाते हैं। आँखें झप जाती हैं, तपस्या के शुभ्र प्रत्यूष में अनुराग की अरुण उषा छिटक पड़ती है, साधना का बर्फ गलने लगता है; लगन की आग झँझाने लगती है, हृदय की एकांतता में किसी की छाया घुस पड़ती है, जागृति में अँग-ड़ाई भर जाती है, स्वप्नों में मादकता-सी आ जाती है, और....और जब आँखें खुलती हैं तब कहीं कुछ नहीं रहता। फिर से नयी कहानी शुरू होती है—नयी यात्रा होती है, नया प्रस्थान होता है। इसी तरह यह संसार चलता है।

"आत्मा के ऊपर शरीर का सबसे बड़ा प्रभाव है संशय। जब संसार में सभी किसी-न-किसी से प्रेम करते हैं, सभी का कोई-न-कोई एक अपना है, जब किसी से प्रेम करना, किसी के प्रेम का पात्र बनना प्राणिमात्र का अधिकार है, तब फिर मैं—केवल मैं ही क्यों इससे वंचित रहूँ? यह जीवन की अमर समस्या है, शाश्वत प्रश्न है।

"किन्तु सत्य क्या है, लोग यह समझने की बहुत कम चेष्टा करते हैं। जिनके पैर हैं वे जमीन पर चलते हैं, किन्तु जिन्हें पंख मिले हैं यदि वे भी जमीन पर ही चलें तो यह अपनी शक्तियों का दुरुपयोग है। जिन्हें ईश्वर ने आकाश में उड़ने के लिए बनाया है, अपने लिए पृथ्वी पर चलना अपने महत्व की उपेक्षा करना है, अपने आपको भूलना है।

"प्रेम करने की योग्यता सबमें है, किन्तु सेवा करने की शक्ति किसी-किसी को ही मिलती है। सेवा करने की योग्यता रखना दण्ड नहीं, ईश्वर का का आशीर्वाद है। जिसे ईश्वर ने संसार में अकेला बनाया है, धन-वैभव नहीं दिया है, सुख में प्रसन्न होने वाला और दुख में गले लगा कर रोने वाला साथी नहीं दिया है, संसार के शब्दों में जिसे उसने दुखिया बनाया है, उसके जीवन में महान् अभिप्राय भर दिया है, शक्ति का एक अमर स्रोत, बेचैनी की तड़फड़ाती हुई आँधी उसके अंतर में सँजो कर रख दिया है। हो सकता है वह उसे न समझे, शायद संसार भी इसे न समझे; फिर भी वह नहीं है, ऐसी बात नहीं; वह है। आवश्यकता है केवल उसे समझने की।

"पगडंडी, तुम ईश्वर की उन्हीं रचनाओं में से एक हो। तुम्हारा निर्माण इसलिए नहीं हुआ है कि तुम एक की होकर रहो, एक के लिए जियो और एक के लिए मरो। नहीं, तुम पृथ्वी पर एक बहुत बड़ा उद्देश्य लेकर आयी हो। जेठ की धधकती हुई लू में, भादों की अजस्र वर्षा में और शिशिर के तुषार-पात में इसी तरह लेटी रहकर तुम्हें असंख्य मनुष्यों को घर से बाहर और बाहर से घर पहुँचाना पड़ेगा। सभ्यता के विस्तार के लिए, जीवन के सौख्य के लिए, संसार के कल्याण के लिए तुम्हें बड़ा-से-बड़ा त्याग करना पड़ेगा। तुम्हारा कोई नहीं, इसलिए कि सभी तुम्हारे हैं, तुम किसी की नहीं हो, इसलिए कि तुम सभी की हो। तुम अपने जीवन का उपभोग नहीं करती हो, तुम विश्व की अक्षय विभूति हो।

"आज के पहले मैंने तुमसे कभी कुछ नहीं कहा था, कारण यह था—पगडंडी, मेरी स्पष्टवादिता को क्षमा करना—कि तुम्हारी आत्मा सोई हुई थी, केवल शरीर जगा था। तुम नहीं समझती थी कि तुम कौन हो, किसलिए यहाँ आई हो। तुम संसार के पुराने पथ पर चलना चाहती थी। आज चाहे जिस कारण से हो, तुम्हें अपने वर्तमान जीवन से असंतोष हो गया है; तुम्हें अपने से घृणा हो आई है। आज तुम अनंत में कूदने जा रही हो, संसार में कुछ करने जा रही हो, तुम्हारी आत्मा जग उठी है। इन बातों को कहने का मुझे आज अवसर मिला है।

"पगडंडी तुम ऐसा न समझना कि मैं तुमसे स्नेह नहीं करता, उससे भी अधिक मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ; फिर भी अपने व्यक्तित्व को तुम्हारे पथ में खड़ा करके मैं तुम्हारी आत्मा की प्रगति को रोकना नहीं चाहता। मैं तुम्हारी चेतना में अपनी छाया डालकर उसे मलिन नहीं करना चाहता। तुम्हारी संगीत-लहरों में अपवादी स्वर बनकर उसे बेसुरा बनाना नहीं चाहता। मैं बड़े उल्लास से तुम्हें यहाँ से बिदा करता हूँ। जाओ—संसार में जहाँ अधिक-से-अधिक तुम्हारा उपयोग हो सके, वहाँ जाओ और अपने जीवन को सार्थक बनाओ—यही मेरी कामना है, यही मेरा···क्षमा करना, आशीर्वाद है।

"केवल एक बात और कहनी है; मेरी हृदयहीनता को भूल जाना—हो सके तो क्षमा कर देना। मेरे भी हृदय है, उसमें भी थोड़ा रस है, पर मैंने जान-बूझ कर उसे सुखा दिया। उसे आँखों में नहीं आने दिया, ओठों पर से पोंछ डाला। तुम्हारे कर्तव्य-पथ को मैं अपने आँसुओं से गीला नहीं बनाना चाहता। पगडंडी मेरी व्यथा समझने की कोशिश करना। यदि न समझ पाओ, तो फिर सब कुछ भूल जाना!

"संसार तुम्हारी राह देख रहा है, अनंत तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। जाओ, अपना कर्तव्य पालन करो। संसार तुम्हें कुचले तो तड़पना नहीं, भूल जाये तो सिसकना नहीं। भूले हुए पथिकों को घर पहुँचा

देना। जो घर छोड़ कर विदेश जाना चाहते हों उनकी सहायता करना, जब तक जीना खुश रहना, कभी किसी के लिए रोना नहीं और—एक बात और यदि तुम्हारे हृदय में कभी प्रेम की भावना आ जाय तो कोशिश करके, अपने अस्तित्व का सारा बल लगाकर, उसे निकाल डालना। यदि न निकाल सको तो फिर वहाँ से कहीं दूर चली जाना।"

पगडण्डी! बिदा! तुम अपने ज्योतिर्मय भविष्य में अपने धुँधले अतीत को डुबो देना। सब कुछ भूल जाना—वट दादा और रामी के कुआँ को भी भूल जाना। केवल यही याद रखना कि तुम कौन हो और तुम्हारा कर्तव्य क्या है—बस जाओ; बिदा!—ईश्वर तुम्हे बल दे।"

कुआँ चुप हो गया। आधी रात को की स्वप्निल नीरवता में जान पड़ता था उसका स्वर अब गूँज रहा हो, शब्द अन्तरिक्ष में अब भी घुमड़ते फिरते हो। मैं कुछ बोल नहीं सकी। तंद्रा-सी छा गई, काठ-सा मार गया। उसके अंतिम शब्द अर्धरात्रि के शून्य अंधकार में बिजली के अक्षरों में मानों चारों ओर लिखे हुए से जग रहे थे—बस जाओ; बिदा ईश्वर तुम्हें बल दे।

ठीक ठीक याद नहीं आता; कितने दिन हुए; फिर भी एक युग-सा बीत गया। मेरी आँखो के सामने वह स्वरूप आज भी रह-रह कर नाच उठता है, कानों में वे शब्द भी रह-रह गूँज उठते हैं।

अब मैं राजधानी का मार्ग हूँ। दोनों ओर सहेलियों की तरह फुट-पाथ है; धूप और वर्षा से बचने के लिए दोनों ओर वृक्षों की कतारें हैं, रोशनी के बिजली के खम्भे हैं; और न जाने विभव-विलास की कितनी चीजें हैं। मेरा शृंगार होता है, मेरी देख-रेख में हजारों रुपये खर्च किये जाते है, राज-महिषी की तरह मेरा सत्कार होता है, जहाँ तक दृष्टि जाती है—बस मैं ही मैं हूँ।

उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। मैं शहर की धमनी हूँ, इसका रक्त-प्रवाह मुझ से ही होकर चारों ओर दौड़ता है। मैं सभ्यता का स्तंभ हूँ,

राज्य-सत्ता का प्राण हूँ। इतनी भीड़ रहती है कि सोचने की फ़ुरसत भी नहीं मिलती। जन-समुद्र की अनंत लहरें मुझे कुचलती हुई एक ओर से दूसरी ओर निकल जाती हैं, मैं उफ़ तक नहीं करती। इतनी भीड़ में मुझे अपना कहने वाला एक भी नहीं, एक क्षण के लिए भी मेरा होने वाला कोई नहीं। मेरे जलते हुए निर्विश्राम जीवन पर सहानुभूति की दो बूँद छिड़क दे, ऐसा कोई नहीं, फिर भी मैं व्यथित नहीं होती; खुश रहने की कोशिश करती हूँ। वेदना के शोलों पर मुस्कराहट की राख बिखेरती हूँ, ओठों में हृदय को छिपाये रहती हूँ। जहाँ तक होता है उसने जो कुछ कहा था, सब कुछ करती हूँ। केवल एक ही बात नहीं होती, उसे भूल नहीं पाती!

अमराई की छाया में घासों और पत्तों पर वह जीवन, पक्षियों के गाने, लताओं के झगड़े, बट दादा की कहानियाँ और......और क्या कहूँ? कितनी बातें हैं भुलायीं नहीं जा सकतीं! मेरे जीवन-संगीत की तान लौट कर सम पर आती है, आकर फिर लौट जाती है, पर किसी का सिर नहीं हिलता!

यह पुराना इतिहास है, कोई क्या जाने। एक समय था, जब मैं ऐसी नहीं थी!

खोटा या खरा

एक, दो, तीन, चार, पाँच सुरेश ने तड़ातड़ पाँचों लिफाफे फाड़ डाले। पहले में संक्षेप में लिखा था—'जगह खाली नहीं है' और नीचे लंबा-चौड़ा हस्ताक्षर था। दूसरे में लिखा था—'जगह खाली होने पर सूचना दी जायगी' इसमें लिखने वाले ने हस्ताक्षर ही नहीं किया था। तीसरे में लिखा था—"एक महीने बाद जगह खाली होगी।"—लेकिन इस पर कोई तारीख ही नहीं थी। चौथे में उसकी अर्जी बिना खोले ही वापस कर दी गई थी और पाँचवें में लिखा था—'कल शाम को इंटरव्यू के लिए हाजिर हो। लौटती डाक से खबर दो।'

एक बार, दो बार, तीन बार—मालूम नहीं कितनी बार सुरेश ने उसे पढ़ा; फिर भी जी नहीं भरा।

'इण्टरव्यू के लिए हाजिर होओ और कल ही।'—जान पड़ता है जगह खाली है और मेरी अर्जी भी पसंद आ गई है; और······

सुरेश ने खड़े होकर शीशे में मुँह देखा। कोई विशेष हर्ज नहीं है। थोड़ा दुबला जरूर हो गया है और यह नाक के सामने एक मुँहासा निकल आया है,···लेकिन खैर, कोई हर्ज नहीं, ट्वायलेट में सब छिप जायेगा। फिर ट्रंक खोल कपड़ा निकाले। कोट ठीक है। पैण्ट भी धुला हुआ तो जरूर है, लेकिन क्रीज खराब हो गया है, लोहा कराना होगा। कमीज की बाँह फटी है, फटी है,···लेकिन उससे क्या? वह तो कोट के भीतर रहेगी। नेकटाई ठीक है, कॉलर भी······हाँ हाँ काम चल जायेगा। और जूता? फटा तो नहीं है, लेकिन पॉलिस करानी होगी।

बस और क्या ? हाँ, एक चीज तो छूट ही गई। कॉलरस्टड, नेकटाई की पिन, कमीज के बटन, ? सुरेश ने सारा ट्रंक छान डाला,—आलमारी में, बिछावन के नीचे, पॉकेट में, यहाँ तक कि सेफ्टी-रेजर के डब्बे में भी खोजा; लेकिन कहीं पता नहीं, ये तो खरीदने ही पड़ेंगे।

और फिर वापसी डाक से खबर भेजने के लिए सुरेश पत्र लिखने बैठा। पत्र लिखकर उसे लिफाफे में बंद किया, फिर टिकट ढूँढ़ने लगा। लेकिन टिकट का भी कहीं पता नहीं। अंत में मनीबेग में बचा हुआ आखिरी रुपया निकाला। इस महीने के इकत्तीस तारीख तक इसी रुपए से काम चलाना है। इसी बीच बटन, स्टड वगैरह भी खरीदने हैं! खैर देखा जायेगा, अभी तो पत्र छोड़ना जरूरी है।

सुरेश ने पोस्ट-ऑफिस पहुँचकर देखा—टिकट की खिड़की पर जो महाशय बैठे हैं उनकी दोनों आँखें द्विपथगा हो दो दिशाओं के भिन्न-भिन्न कोणों की समीक्षा कर रही हैं।

"एक आने का टिकट ?"

महाशय जी की एक आँख थी दीवार की टंगी हुई घड़ी पर, दूसरी दरवाजे की ओर।

सुरेश ने पुकारा—"जरा इधर भी देखिये जनाब ! एक आने का……"

"देख तो रहा हूँ, क्या चाहिए ?"

सुरेश ने देखा घड़ी पर जो आँख थी वह आलमारी की ओर आ गई है, और दरवाजे की ओर जो थी उससे अब वे बड़े क्रोध से सुरेश की ओर देख रहे हैं।

तनिक मुस्कराकर उसने कहा—"एक टिकट, कितने का ?"

"एक आने का" और फिर रुपया बढ़ा दिया।

महाशय जी ने पहले इस आँख से रुपये को देखा, फिर उस आँख से और तब एक बार टेबुल पर उसे जोर से पटक कर सुरेश की ओर फेंक दिया।

"आप मुझे अंधा समझते हैं ?"

"नहीं तो..."

सुरेश ने सोचा—आँखें दोनों समनान्तरगामिनी नहीं, फिर भी हैं तो जरूर ! ऐसी हालत में अंधा कैसे समझ सकता हूँ।

तब तक महाशय जी ने बिगड़ कर कहा,—"तो फिर इसके क्या मानी ? देखते नहीं खोटा रुपया है ? यह चलेगा और पोस्ट ऑफिस में ?"

सुरेश ने देखा सचमुच खोटा रुपया है और अब तक उसे मालूम नहीं ! बड़ी मुसीबत है।

"हुँह अंधा समझ रखा है !"

महाशय जी ने एक आँख रजिस्टर और दूसरी पेपरवेट पर करके टिकट मिलाने शुरू किये और सुरेश पोस्ट-ऑफिस के सामने की एक बेंच पर आकर धम् से बैठ गया।

अब क्या होगा ? दूसरा रुपया अपने पास है नहीं, माँगने से यहाँ कोई देगा नहीं और घर बहुत दूर है !

डाक तुरन्त डिस्पैच होगी, इसलिए पत्र का जाना भी जरूरी है; इसके अलावा इण्टरव्यू के लिए और सामान भी खरीदना है, अब ?...

एक युवती हाथ में एक चमड़े का सूटकेस लिए फुटपाथ पार करके आयी और भीतर घुस गई। और कोई समय रहता तो शायद सुरेश उसे अधिक ध्यान से देखता, लेकिन अभी उसका मूड नहीं था।

चिठ्ठी नहीं पहुँचने से शायद इण्टरव्यू हो ही नहीं ! भेजना तो जरूरी है और तुरन्त। तब फिर ? उफ़ अगर बस चलता तो इस ऍंचे-

ताने की दोनों आँखें···युवती भीतर से निकली और नीचे सीढ़ियों पर उतरते-उतरते सहसा ठिठक कर खड़ी हो गई। बोली—"आपको साबुनों की जरूरत है ?"

सुरेश ने देखा युवती उसी से पूछ रही है। वह खड़ा हो गया—"जी नहीं, धन्यवाद।"

"खैर एक सैम्पल ले लें और अगर फिर ज्यादा की जरूरत हो तो यह पता भी है···"

युवती ने साबुन का एक सैम्पल और कार्ड सूटकेस में से निकाल कर दिया और फिर चलना ही चाहती थी कि एकाएक रोक कर सुरेश ने कहा—"आप सैम्पल क्यों देती हैं मैं एक साबुन खरीद ही लेता हूँ।"

"नहीं, नहीं इसे तो आप रखें। अगर आप खरीदना चाहें तो मैं दूसरा दे सकती हूँ।"

युवती ने दूसरा साबुन निकाल कर दिया और सुरेश ने बड़ी लापरवाही के साथ दूसरी ओर देखते हुए उसके हाथ में रुपया निकाल कर रख दिया। युवती ने रुपया लेकर मनीबेग में से बारह आने पैसे निकाल कर उसके हाथ में रख दिए और धन्यवाद देकर चली गई।

सुरेश हाथ में पैसे लिए जब तक वह अदृश्य नहीं हो गई उसे देखता रहा और फिर एक लंबी साँस लेकर टिकट खरीदने चला।

कामना सेण्टमाइकेल कालेज के थर्डइयर में पढ़ती थी। एक साल पहले पिता की मृत्यु हो चुकी थी, इसलिए शिक्षा क भार स्वयं वहन कर सकने के लिए साबुन-तेल आदि की एजेंसी ले रखी थी। फोर्थइयर पास कर के ट्रेनिंग में जाने की इच्छा थी। तीन साल का मामला था। इसलिए किसी दूसरे की आश्रित न होकर अपने पैरों पर स्वयं खड़ी होने का संकल्प कर उसने समय का थोड़ा-सा भाग इस व्यवसाय की ओर दे रखा था।

उस दिन शाम को जब घर लौटी तो सिर में बहुत जोरों का दर्द था। कुछ टेम्परेचर भी था। रात को बड़ी बेचैनी रही। दूसरे दिन कालेज नहीं गई, कुछ खाया-पिया नहीं। दिन-भर पड़ी रही।

तीसरे दिन बुखार उतर गया। दो दिन से खाया नहीं था। जोरों की भूख लगी थी। नौकर को बुला कर एक रुपया दिया। कहा—"जाकर नारंगियाँ और अनार ले आओ।"

आध घंटे बाद जब नौकर लौटा तब हाथ में न नारंगियाँ थी, न अनार! वही रुपया था!

"क्यों क्या हुआ?"

"बाई जी रुपया तो चलता नहीं।"

"क्यों?"

"बिल्कुल खोटा है—कहाँ से मिल गया आपको? देखिये न?"

सचमुच रुपया बिल्कुल खोटा था। मालूम नहीं आँखें रहते कैसे उसने ऐसा रुपया ले लिया। तबीयत खराब है, जोरों की भूख लगी है, कमजोरी से उठा नहीं जाता; यह रुपया खोटा निकला और दूसरा पास में है नहीं! अब क्या होगा?

"रहने दे। जैसे दो दिन, वैसे तीन दिन, आज भी नहीं खाऊँगी—"

"बाई जी दूसरा रुपया दे दो, मैं फिर चला जाता हूँ...

"तू जा दूसरा मेरे पास नहीं है—"

"अरे नहीं, ऐसा क्या,—खोजिये भी, कहीं न कहीं मिल ही जायेगा?"

"तू जा...मेरा सिर मत खा...दूसरा क्या आसमान से गिरेगा?"

"लेकिन—"

"कुछ नहीं...मैं नहीं खाऊँगी...तू जा अपना काम कर।"

कामना ने अपना सिर जोर से तकिए के भीतर छिपा लिया और इतने में बड़ी संजीदगी और तकल्लुफ के साथ बाबू सुरेशचन्द्र ने कमरे में प्रवेश किया।

"नमस्कार!"

कामना ने सिर उठा कर देखा, उस दिन का पोस्ट-ऑफिसवाला युवक खड़ा है, हड़बड़ा कर उठ बैठी।

सूखे हुए ओठों और भीगी हुई आँखों के संदेश को शीघ्रता से पढ़ते हुए सुरेश ने कहा—"कष्ट के लिए क्षमा चाहता हूँ। मैं अपने रुपये के लिए आया हूँ।"

"आप का रुपया?"

"जी हाँ, उस दिन पोस्ट-ऑफिस में जो रुपया मैंने आपको दिया था, वह खोटा था। यह बात जब मुझे मालूम हुई तो मैंने सोचा उसे वापस ले लूँ और अगर मैं गलती नहीं कहता हूँ तो शायद यही वह रुपया है।"

सुरेश ने तिपाई पर पड़े हुए रुपये को उठा लिया और ध्यान से देख कर उसे पॉकेट में रख लिया और एक नया चमकता हुआ रुपया उसके जगह पर रख दिया।

"धन्यवाद—" कामना ने मुस्करा कर कहा।

"जी नहीं, अगर सच पूछें तो धन्यवाद तो मुझे आपको देना चाहिए।"

"किस लिए?"

और तब सुरेश ने बताया कि उसके पैसे का टिकट खरीद कर जो उसने चिट्ठी लिखी थी, उसके बल पर उसे जाते ही नौकरी मिल गई और उसका बहुत कुछ श्रेय कामना ही को है।

उस दिन में कामना को नारंगी और अनार का रस पिला कर बहुत देर बाद जब सुरेश घर लौटा, तो जान पड़ता था उसके पाँव रह-रह कर घूम जाना चाहते हैं।

इसके लगभग एक साल बाद जब कुमारी कामना बी० ए० का श्रीयुत सुरेशचन्द्र एम० ए० से विवाह हुआ तो उपहार में उन्होंने एक गंगा-जमुनी की छोटी सी डिबिया भेंट की।

कामना ने देखा—उसके भीतर एक मैला, घिसा हुआ खोटा रुपया मुस्करा रहा है।

"यह क्या ?"

"वह अपना परिचय स्वयं देगा।"

"और वह रुपया सोच रहा था मैं अपना परिचय क्या दूँ ?"

———

दहेज

टननन‍न् टननन् फोन की घंटी बज उठी ।

'हैलो', मोहन दास ने उत्सुक स्वर में पूछा । 'कौन विश्वनाथ ? क्या हुआ ? मुलाकात हुई ? हाँ, अच्छा, ठीक है, मैं तुरत आया ।'

बीस मिनट के बाद मोहन दास की कार कलकत्ता बिल्डिंग के पोर्टिको में जा खड़ी हुई । लगभग पच्चीस मिनट तक कार का ड्राइवर अनन्त नीलाकाश का सारा खोखलापन अपने हृदय में भर कर किसी दुर्वह वेदना के भार से दबा हुआ कोई शिथिल अलस स्वर गुनगुनाता रहा । पहले किसी पनघट पर बहुत दिनों का सुना हुआ कोई पुराना अर्ध विस्मृत गीत याद आया, फिर ऊब कर एक फ़िल्म का गजल गाने लगा । सामने एक मौलश्री की डाल पर दो कबूतर बैठ कर चोंच रगड़ रहे थे, एक तीसरा कबूतर दूसरी डाल पर बैठ कर तृषित दृष्टि से इन दोनो की ओर देख रहा था । ड्राइवर शून्य दृष्टि से उनकी ओर देखता रहा । कबूतर उड़ गए । वह आँखें मूँद कर फिर गुनगुनाने लगा । इतने में ही मोहन दास आकर कार की पिछली सीट पर धप से से बैठ गए ।

ड्राइवर ने दरवाजा बन्द करते हुए पूछा, 'कहाँ चलना होगा ?'

'जहन्नुम'

किन्तु जहन्नुम ऐसी जगह तो है नहीं जहाँ आदमी को मोटरकार में बैठ कर जाने की जरूरत पड़े । कार को पोर्टिको के बाहर निकालते हुए ड्राइवर ने पूछा, ''गार्डेन हाउस' चलूँ ?'

कोई उत्तर नहीं मिला ।

ड्राइवर ने ऐक्सिलरेटर दबाया और भों-भों करती हुई मोटर विद्यु-

ढंग से चल निकली। सामने चौमुहानी पर ट्रैफिक रुक गई थी। कार खड़ी हो गई। मोहन दास मानो नींद से चौंक उठे, बोले 'अभय, घर चलो।'

ड्राइवर ने कार घुमाली।

मोहन दास की एक मात्र कन्या लवंग अपने कमरे के पिंजरे में पड़ी हुई नयी चिड़िया की तरह व्याकुल-सी घूम रह थी। शाम को छह बजे सिनेमा चलने की बात थी। मोहन दास भी चलने वाले थे। खेल शुरू होने में केवल सात मिनट की देर थी और अभी तक उनका कोई पता नहीं। कहीं जाना होता तो कह दिया करते थे। आज एकाएक बिना किसी से कहे सुने चले गए और अभी तक लौटे नहीं। जानते थे कि सिनेमा जाना है फिर ऐसा कौन-सा जरूरी काम आ पड़ा कि दो घंटे के लिए स्थगित नहीं हो सकता था। केरल का कथकली नृत्य आया था केवल एक दिन के लिए। नवीन चन्द्र भी आने को थे। उन्होंने लवंग से आने के लिए विशेष अनुरोध किया था। सीटें रिजर्व हो चुकी थीं। लवंग कपड़े पहन कर बिल्कुल तैयार हो गई थी, किन्तु मोहन दास का कहीं पता ही नहीं। कार भी नहीं थी। उसने बैंक में फोन किया, जहाँ-जहाँ उनके अड्डे थे वहाँ भी फोन किया, किन्तु कहीं पता नहीं लगा। फोन पटक कर उसने नौकरों से त्रास करना शुरू किया। किन्तु वे भी क्या बतलाते। अंत में रोनी सूरत बनाकर सजी हुई जापानी गुड़िया की तरह वह एक कुर्सी पर बैठ गई। घड़ी में देखा केवल तीन मिनट बच रहे थे। गॉडरेज की तिजोरी में जड़े हुए आईने पर नजर पड़ गई। आह···यह मलय चंदन के रंग की साड़ी उस पर कैसी खिल रही थी और फिर हीरे का ब्रूच। लवंग के हृदय से एक आह सी निकल गई। आज कुछ नहीं हो सकेगा। नवीन प्रतीक्षा कर रहे होंगे, हाथ में टिकट लिए विक्षिप्त की तरह इधर-उधर घूम रहे होंगे, सिनेमा का दूसरा अलार्म बज चुका होगा, बत्तियाँ बुझ रही होंगी······लवंग की निराश आँखें निष्प्रभ-सी सिलिंग फैन पर अटक

गई......इतने में ही मोटर का हार्न सुनायी दिया और मोटर पोर्टिको में घुसी। लवंग उछल पड़ी। मोहन दास उसे सजी-सजायी देख कर ठिठक से गए। बोले, लवंग, सिनेमा की बात तो मुझे बिल्कुल ही याद नहीं रही। अब तो शायद टाइम भी नहीं है।"

समयाभाव के कारण रोष की बाढ़ को रोक कर लवंग ने कहा 'अभी टाइम है, शुरू होते-होते पहुँच जायेंगे।'

'तो भई तुम जाओ मैं तो आज नहीं जा सकूँगा' मोहन दास ने कुर्सी पर बैठते हुए कहा।

लवंग ने पंखे का स्विच दबाते हुए कहा, 'नवीन ने आपको लाने के लिए भी विशेष अनुरोध किया था।'

मोहन दास शांत भाव से बोले, 'मेरी ओर से क्षमा माँग लेना। मेरी तबीयत ठीक नहीं है।'

शायद और कोई समय होता तो तबीयत खराब की बात सुन कर लवंग पूरे सौ प्रश्न करती, किन्तु इस समय उनके क्लान्त चेहरे को गौर से एक बार देख कर बोली, 'कहिये तो डॉक्टर बनर्जी को फोन करूँ।'

'नहीं, नहीं, इसकी कोई जरूरत नहीं, तुम जाओ।' लवंग तेजी से मोटर पर जाकर बैठ गई। बोली 'अभय' चलो तेजी से लक्ष्मी टॉकीज फुल स्पीड।'

अभय स्टीयरिंग ह्वील पकड़े चुपचाप उसका मुँह देखता रहा।

'चलते क्यों नहीं? मेरा मुँह क्या देख रहे हो?' लवंग ने आवेश से कहा।

अभय बोला 'किन्तु कथकली नृत्य तो चित्रा में है।'

'ओ ठीक है, मुझे पता है, चित्रा चलो, टाइम बिल्कुल नहीं है लवंग ने किंचित् मुस्कुराते हुए कहा।

कार विद्युद्वेग से चल पड़ी।

रास्ते में लवंग ने भौंहें टेढ़ी कर गंभीर भाव से पूछा 'अभय', तुमने कैसे जाना कि मैं कथकली नृत्य देखने ही जाऊँगी ?'

अभय ड्राइवर ने हार्न को अधिक जोर से बजाते हुए कहा 'मिस्टर' नवीन चन्द्र अभी वहीं गये हैं।'

लवंग झेंप-सी गई, फिर थोड़ा ठहर कर बोली, 'कथकली नृत्य एक बिल्कुल नयी चीज है। अगर चाहो तो कार को किसी गैराज में रख कर तुम भी देख लो।'

अभय ने आहत स्वर में कहा, 'धन्यवाद, मैं नहीं देखूँगा।'

दो मिनट में कार चित्रा के सामने पहुँच गई। लवग कार से उतर कर चली गई।

मिल्की बल्ब के मंद प्रकाश में सिगार के धुएँ की रिंग बनाते हुए मोहन दास अतीत का सिंहावलोकन कर रहे थे। सुदूर काल की क्षीण स्मृतियाँ एक एक करके मुँदी हुई पलकों के नीचे बिखर पड़ती थीं। इन स्मृतियों के कैसे-कैसे रंग थे, इनमें कितनी मिठास थी, कैसी कसक थी!

उन्नीस साल पहले। जाड़े का दिन था, दस बजे रात का समय। मोहन दास बैंक के जरूरी कागजों को देख रहे थे। दूसरे दिन डाइरेक्टरों की मीटिंग थी। कागजात पेश करने थे। फाइलों के समुद्र में फाउण्टेन पेन लाइनर की तरह तैरता चला जा रहा था। इतने में ही किसी ने आकर पीछे से आँखें मूँद लीं। मोहन दास ने आहिस्ते से गाल में फाउण्टेन पेन की निब छुला दी। कुसुम ने हाथ खींच कर अनखाते हुए कहा, 'यह तुम्हारी कौन-सी आदत है?'

मोहन दास ने उसे खींच कर पास में बैठाते हुए कहा, 'और आँखें मूँदने की तुम्हारी यह कौन-सी आदत है।'

कुसुम ने फाउण्टेन पेन छीन कर फेंक दिया, और बोली, 'अब नहीं लिखने पाओगे।'

'अरे नहीं, कल बहुत ही जरूरी मीटिंग है।'

'तो मैं क्या किसी से कम जरूरी हूँ ?'

'सो तो मैं नहीं कहता।'

'तो फिर क्या कहते हो ?'

'यही कि थोड़ा-सा काम और रह गया है।'

'कल कर लेना।'

'कल तो फुर्सत नहीं मिलेगी।

'हूँ' कुसुम ने वक्र दृष्टि से देख कर कहा,

'अच्छा मान लो कि कल दोपहर में बारह बजे से तीन बजे तक मैं तुमसे कहूँ कि मेरी चोटी गूँथ दो, कपड़े तह करके रख दो और राधा-कृष्ण की तस्वीर के फ्रेम में पालिश लगा दो तो करोगे ?'

'बारह से तीन बजे तक तो मैं मीटिंग में रहूँगा।'

'तो अगर तुम दिन में मेरा काम नहीं कर सकते तो फिर मैं रात में तुम्हें बैंक का काम क्यों करने दूँ ?'

फाइलों को उठाकर कुसुम ने टेबुल के नीचे फेंक दिया, बत्ती बुझा दी और अंधेरे में मोहन दास की नाक में सींक डाल दी। जब तक वह उसे पकड़ें-पकड़ें तब तक निकल भागी।

एक दिन सुबह से ही कुसुम ने हल्ला करना शुरू किया कि आज मैं मार्केटिंग करने चलूँगी। मोहन दास को कहीं बाहर जाना था, किन्तु उसने जान बूझ कर गाड़ी छुड़वा दी। वे बहुत झल्लाए। बोले, 'तुम्हें क्या मँगाना है, बताओ मैं नौकर से मँगवा दूँ।'

वह बोली 'आज मैं स्वयं खरीदने जाऊँगी।

शाम को वह जाकर पूरे सौ रुपये के खिलौने खरीद लायी। घर में कोई बच्चा नहीं था। मोहन दास विस्मित होकर बोले, 'कहीं भेजना है क्या ?'

आल्मारी में सिलसिले से खिलौने सजाते हुए कुसुम ने कहा, 'कहीं नहीं।'

सुबह की गाड़ी छूट जाने से मोहन दास चिढ़े हुए थे, बोले, 'तो फिर शायद तुम स्वयं खेलोगी।'

'कुसुम खिलौने सजाती हुई कुछ ठहर कर बोली, 'अगर मैं जानती कि तुम्हारी कल्पनाशक्ति ऐसी निकम्मी है तो···तो···।'

'तो मुझसे व्याह नहीं करती, क्यों ?'

'हाँ, ऐसा ही कुछ।'

'मेरी कल्पनाशक्ति को तो नाहक दोष देती हो अपनी फिजूल-खर्ची नहीं देखती।'

कुसुम ने रोष से कहा, 'मैंने क्या फिजूल-खर्ची थी ?'

गम्भीर भाव से मोहन दास ने कहा, 'सिर्फ आल्मारी में सजाने के लिए सौ रुपये के खिलौने लाना फिजूल-खर्ची नहीं तो और क्या है ? घर में कोई बच्चा रहता तो एक बात भी थी।'

कुसुम ने आल्मारी का दरवाजा जोर से बन्द करते हुए कहा, 'घर में बच्चा नहीं है तो क्या होगा ही नहीं ?' कह कर वह तेजी से कमरे के बाहर चली गई।

मोहन दास चौंक पड़े और झपट कर उसे पकड़ लाए। पूछा, 'बताओ क्या बात है ?' वह कुछ भी नहीं बोली। फिर भी अर्थ स्पष्ट था। भावी संतान की मधुर कल्पना में दो प्राण एकाकार हो गए।

जीवन के कुछ दिन ऐसे होते हैं जिनकी छोटी से छोटी बात भी स्मृतियों के धूमिल चित्र पट में हीरे की कनी की तरह चमका करती है। एक दिन मोहन दास अखबार पढ़ रहे थे इतने में ही कुसुम उदास-सी वहीं आकर बैठ गई। मोहन दास ने अखबार रख दिया और हाथ में उसका हाथ लेकर बोले, 'जी ठीक तो है ?'

कुसुम चुप रही।

उन्होंने कहा, 'आज मन्दिर में कीर्तन है, सुनने चलोगी तो ?'

कुसुम ने थोड़ी देर चुप रहकर कहा, 'बिनियाँ की लड़की कल रात को मर गई।'

'क्या हुआ था ?'

'लड़का हुआ था !'

मोहन दास ने सकरुण स्वर में कहा, 'बड़ा बुरा हुआ, शायद ठीक से देख-रेख नहीं हुई ।'

कुसुम की बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू छलछला आए । वह एकटक मोहन दास की ओर देखने लगी । उसका ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करने के लिए उन्होंने कहा, 'सोनार ने तुम्हारा हार तैयार कर दिया है । आज शाम को आ जायेगा ।'

कुसुम चुपचाप उनकी ओर देखती रही ।

'और वह जो आल्मारी मरम्मत करने के लिए दी गई थी वह भी आज आ जायेगी, ऊपर वाले कमरे में······।'

कुसुम की आँखों में से कई कतरे आँसू जेठ के पहले बूँदों की तरह टपाटप चू पड़े, मोहन दास ने उसे गोद में लिटा लिया ।

उसके रेशमी वस्त्रों को उँगली में लपेटते हुए उन्होंने कहा, 'कुसुम, इस हालत में तुम्हें इन बातों पर ज्यादा गौर नहीं करना चाहिए ।'

कुछ रुक कर कुसुम ने कहा, 'और···और मान लो मैं भी मर गई तो ?'

मोहन दास ने विह्वलता से कहा, 'तुम ऐसी बातें क्यों मन में लाती हो ? आखिर यह भी कोई बात है ।'

कुसुम थोड़ी देर चुप रही फिर बोली, 'अगर मैं मर गई तो तुम शादी कर लेना ।'

'तुम ऐसी बातें करोगी तो मैं यहाँ से चला जाऊँगा' मोहन दास ने बिगड़ कर कहा ।

ससीम आँखों में असीम कृतज्ञता भर कर कुसुम ने कहा, 'अच्छा अब ऐसी बातें नहीं करूँगी लेकिन अगर मैं नहीं रही तो फिर बच्चे की माँ और बाप दोनों तुमको ही बनना पड़ेगा देखना उसे···'

मोहन दास ने उसका मुँह दबा दिया। सिगार खत्म हो गया था। उसे फेंक कर मोहन दास ने फिर दूसरा जलाया और कुर्सी पर लेट गए।

भादो का महीना था, आधी रात का समय। कुसुम प्रसव-पीड़ा से व्याकुल थी। रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो रही थी। दूर के तालाब से मेढकों के बोलने की आवाज आ रही थी। मोहन दास अपराधी की तरह दबे पाँव इधर-उधर घूम रहे थे। इतने में ही निशीथ की शून्यता को रौंद कर नर्स ने अपनी शुभ्र हँसी बिखेरते हुए कहा, 'मिस्टर मोहन दास, लड़की मुबारक।'

मोहन दास एक पंखे का ब्लेड ठीक कर रहे थे। ब्लेड झनझना कर जमीन पर गिर पड़ा, बोले 'और···और···'

'और डिलीवरी बिल्कुल सेफ हुई। माँ, बच्ची दोनो मजे में है। बधाई।

छलकते हुए दुग्ध फेन की तरह नर्स वहाँ से चली गई। मोहन दास ने काँपते हुए हाथों से किसी अदृश्य शक्ति को प्रणाम किया।

किन्तु मनुष्य की बधाइयों का मूल्य ही क्या है ? उसकी प्रार्थनाओं में एक तिनके को भी हटाने का या बहते हुए एक जल-कण को भी रोक रखने का बल है या नहीं कौन कह सकता है ?

दूसरे दिन सुबह कुसुम को फिट आने लगे। डॉक्टर ने समझा साधारण हिस्टीरिया है। किन्तु दोपहर में सिविल सार्जन ने अपने भारी केश-विहीन मस्तक को कई प्रकार से हिला-डुला कर स्वर को यथा-शक्ति भारी बना कर कहा, 'मिस्टर मोहन दास, यह हिस्टीरिया नहीं इक्लैंपशिया है। खून में जहर फैल गया है। केस बहुत खतरनाक है।

हालत खराब होती गई। ब्लड-प्रेशर बढ़ कर एक सौ पचास हो गया। डॉक्टरों ने नसों में से खून निकाला। इंजेक्शन पड़े। आक्सि-जन देने का प्रबन्ध हुआ। अष्टभुजी के महंत ने महामृत्युञ्जय का जप शुरू किया। मोहन दास ने एकान्त में जाकर आर्त्तस्वर में अपने

अस्तित्व का सारा बल लगा कर प्रार्थना की, कि मा दुर्गे इस बार रक्षा कर लो फिर यदि इच्छा हो तो मेरे ही प्राण ले लेना।

किन्तु हुआ वही जो होना था। सुबह होते होते कुसुम के हृदय की धड़कन बन्द हो गई। अदृष्ट की एक चोट ने बधाइयों की निर्झरिणी को मातमपुर्सी का दरिया बना दिया।

घड़ी ने नौ बजाये। मोहन दास ने सिगार फेंक दिया। इतने में ही दरवाजा खुला। आँधी की तरह लवंग ने प्रवेश किया।

'बाबू जी आप नहीं गए! बड़ा ही सुन्दर नृत्य था। मैं तो उत्तरी भारत के नृत्य के साथ इसकी तुलना करने में······क्यों आपका जी कैसा है?

मोहनदास वर्तमान में अतीत देख रहे थे। कुसुम भी तो ऐसी ही आँधी की तरह चलती और झरने की तरह बोलती थी। वह भी तो ऐसी ही···।

लवंग ने एक सिलमिले से सवाल पूछने शुरू किये, 'आपको टैंपरेचर तो नहीं है? सिर दर्द करता है? क्या फिर सोर थ्रोट हो गया? देखूँ आपकी नब्ज।'

मोहन दास ने उकता कर कहा 'नहीं, नहीं', मैं बिल्कुल ठीक हूँ।'

'तो फिर इस तरह चुपचाप क्यों बैठे हैं?'

'संसार में अगर कुछ लोग चुपचाप रहने का अभ्यास न करें तो फिर तेरी बकवादों को सुनेगा कौन।'

लवंग खिलखिला कर हँस पड़ी और फिर मोहन दास के हद से ज्यादा ऊब जाने पर भी कथकली नृत्य और उत्तर भारत के नृत्य की तुलनात्मक समालोचना करके उन दोनों का ऐतिहासिक विवेचन किया तब कहीं जाकर उनका पिंड छोड़ा।

दूसरे दिन प्रातःकाल मोहन दास ने विश्वनाथ, अपने प्राइवेट सेक्रेटरी को आफिस में बुलाया। विश्ववनाथ उम्र में मोहन दास से

कुछ बड़े ही थे। मोटे तगड़े आदमी, बोलते तो जान पड़ता हँस रहे हैं और हँसते तो मालूम पड़ता कि फव्वारा छूट रहा है।

मोहन दास ने बिना उनकी ओर देखे फाइल के पन्ने उलटते हुए संक्षेप में कहा, 'मैंने निश्चय कर लिया।'

'क्या निश्चय कर लिया?'

'चाहे जैसे भी हो लवंग की शादी नवीन चन्द्र से जरूर होगी।'

विश्वनाथ की समझ में नहीं आया कि इसका प्रतिवाद करें या समर्थन, इसलिये चुप रहे।

मोहन दास फिर कहने लगे, मानो सपने में बोल रहे हों, 'मेरे लिए संसार में सबसे ज्यादा बहुमूल्य चीज है लवंग का सुखी होना। नवीन चन्द्र हर तरह से उसके योग्य है। दोनो में प्रेम भी है। उन दोनों के जीवन-में······।'

विश्वनाथ ने पूछा तो बड़ी गम्भीरता से किन्तु चेहरे की बनावट दगा दे गई। मोहान दास ने समझा हँस रहे हैं, बिगड़ कर बोले, 'क्या सब तुम्हारे ही जैसे अंधे है?'

विश्वनाथ ने घबरा कर कहा, 'नहीं, सो बात नहीं, यदि दोनों में प्रेम हो तो बड़ी ही अच्छी बात है, लेकिन···।'

'तुम केवल इतना ही जान लो कि दोनों में घनिष्ट प्रेम है। दोनो एक दूसरे के लिए जान देते हैं। फिर भी मैं इतना जानता हूँ कि यदि लवंग का विवाह मैं किसी दूसरे के साथ कर दूँ तो वह जरा भी विरोध नही करेगी। मेरी आज्ञा का पालन उसकी निगाह में सबसे बड़ी चीज है। प्रेम भी उसमें बाधा नहीं डाल सकता। किन्तु इतना सब कुछ जानते हुए भी मैं लवंग का विवाह दूसरे के साथ कैसे कर सकूँगा। उसका विवाह तो नवीन चन्द्र के साथ ही होगा।'

'कल सर हेमचन्द्र से क्या बातें हुई?'

'जो बातें हुईं उनका अर्थ यही है कि यदि तीन लाख रुपये नकद उन्हें नहीं मिले तो शादी नहीं होगी।'

'तीन लाख !' पहली बार विश्वनाथ के चेहरे ने आश्चर्य का सच्चा भाव प्रतिबिम्बित किया।

'लेकिन उन्होंने अपनी जबान से तो कभी एक पैसे का भी जिक्र नहीं किया। हाँ, खर्च की बात कहते थे।'

'सर हेमचन्द्र ऐसे कच्चे खिलाड़ी नही हैं कि तीन लाख का दहेज माँग कर समाज में नक्कू बनें। वे तो रुपये भी लेंगे और समाज के नेता भी बने रहेंगे। साँप भी मरे और लाठी भी नहीं टूटे। आखिर सर की टाइटिल मुफ्त तो मिली नहीं है।'

'तो फिर वे क्या कहते हैं?'

'सर हेमचन्द्र के पास सामाजिक मर्यादा है, गवर्नमेंट में उनकी इज्जत है, देश के नेताओं के साथ उनकी दाँत काटी रोटी है, किन्तु उनके पास एक ही चीज नहीं है और वह है रुपया। कर्ज से लदे हुए हैं। उनका भवन मकफूज हो चुका है। स्टेट की बुरी हालत है। व्यापार मंदा पड़ गया है। ऐसी हालत में उनकी रक्षा का उपाय केवल यही है कि उनके लड़के की शादी ऐसी जगह हो जहाँ उन्हें रुपये मिल सकें।'

'किन्तु वे मुँह खोल कर रुपये तो माँगते नहीं?'

'यही तो खूबसूरती है। रुपये माँग कर नेतृत्व-पद से वे च्युत होना नहीं चाहते। फिर भी ऐसी परिस्थिति बना देते हैं जिससे रुपये के बिना शादी हो ही नहीं सकती।'

'मैं नही समझा।'

'तुमसे मुझे ऐसी ही आशा थी। नवीन चन्द्र हजारों नहीं लाखों में एक है। सुन्दर, स्वस्थ, सच्चरित्र, प्रतिभाशाली और सुशिक्षित। सर हेमचन्द्र का सामाजिक स्थान भी असाधारण है। कलकत्ते का कोई भी प्रतिष्ठित व्यक्ति जिसके लड़की है आज सर हेमचन्द्र के यहाँ खाक छान रहा है। सर हेमचन्द्र की प्रतिज्ञा है कि जब तक नवीन किसी व्यापार में नहीं लग जायेगा वे उसका विवाह नहीं करेंगे। वे बिहार में एक रेकर्डिंग कम्पनी खोलना चाहते हैं और उनके तखमीने के मुताबिक

इसके लिए फिलहाल तीन लाख मूल-धन की आवश्यकता है। गर्ज बावली होती है। पन्द्रह दिनों के भीतर तुम सुनोगे कि किसी धनी के घर नवीन चन्द्र की सगाई हो गई और दो महीने के अन्दर पटने में रेकर्डिंग कम्पनी फ्लोट हो जायेगी। अब प्रश्न यही है कि विवाह किसके यहाँ होगा।'

'लेकिन तीन लाख तो बहुत होते हैं।'

विश्वनाथ के चेहरे की बनावट ने एक बार फिर जोर मारा। गम्भीरता पर हँसी की छाया पड़ ही गई।

मोहन दास ने तीव्र स्वर में कहा, 'अपनी संतान के जीवन से भी अधिक!'

'हाँ···नहीं···।' विश्वनाथ ने जल्दी में कहा, 'किन्तु आखिर इतने का प्रबन्ध होगा कैसे? समय तो ऐसा है कि सब कुछ बेंच देने पर भी शायद ही इतना मिले और फिर एक मुश्त रुपये देगा कौन?'

कुछ रुखाई से मोहन दास ने कहा, 'केवल यही बातें सुनने में लिए मैंने तुम्हें नहीं बुलाया है।'

थोड़ी देर तक दोनों चुप रहे फिर मोहन दास शांत स्वर में बोले, 'मैं जानता हूँ कि इस विवाह का अर्थ है सर्वनाश, किन्तु मेरा अब क्या बाकी हैं जो सर्वनाश से डरूँ। लवंग तो परायी चीज है। आज यहाँ है कल दूसरे के यहाँ चली जायेगी। फिर किसके लिए यह सारा आडम्बर रचा जाये। अपने निर्वाह के लिए मैं बहुत तरह के काम कर सकता हूँ। इस जाल से मैं जितनी ही जल्दी छूट जाऊँ उतना ही अच्छा।'

'किन्तु···किन्तु···फिर भी···बात यह है कि······'विश्वनाथ सोच रहा था क्या कहूँ। बीच में ही बात काट कर मोहन दास बोले, 'नहीं विश्वनाथ, तुम इसमें किन्तु-परन्तु मत करो। मैं जानाता हूँ कि इस विवाह से लवंग सुखी होगी। किसी दूसरे के साथ इसका जबर्दस्ती विवाह कर देने की अपेक्षा उसे जहर दे देना कहीं अच्छा होगा। रुपये

के लिए मैं उसका जीवन नष्ट नहीं करूँगा। मैंने निश्चय कर लिया है नवीन के साथ ही उसका विवाह होगा चाहे इसके लिए मुझे कितना भी बड़ा त्याग क्यों नहीं करना पड़े।'

विश्वनाथ की स्थूल व्यापारिक बुद्धि में प्रेम की अनर्गलता और जीवन नष्ट की बात ठीक से नहीं अँट सकने के कारण वह बहुत ही झल्लाया, कुछ बोला नहीं, किन्तु चेहरे से जान पड़ता था अभी तुरत कुनैन खायी हो।

मोहन दास बोले, 'मैं सर हेमचन्द्र के नाम पत्र देता हूँ। तुम अभी उनके यहाँ जाओ। परसों सुबह में सगाई का मुहूर्त है। तुम्हें उनसे सारी बातें तै करके आना होगा।'

विश्वनाथ के चेहरे से असंतोष बरस रहा था। वह कुछ कहना ही चाहता था कि बीच में ही मोहनदास ने बात काट कर कहा, 'विश्वनाथ, हमारे तुम्हारे दृष्टिकोण में बहुत बड़ा अन्तर है। शायद हम दोनों एक दूसरे की बात कभी नहीं समझ सकेंगे। मैं जो कुछ कर रहा हूँ उसमें बाधा देने की कोशिश मत करो। मुझे क्षमा करो।'

छोटा-सा पत्र लिख कर मोहन दास ने विश्वनाथ को दे दिया। विश्वनाथ ने अन्तिम बार मानो बहुत परिश्रम से थोड़े में कहा, 'तो क्या तीन लाख देकर आप विवाह को नामंजूर करते हैं?'

मोहन दास ने हँसते हुए कहा, 'नवीन का मूल्य केवल तीन लाख, जरा सोचो तो। मिट्टी के भाव सोना पाकर भी तुम्हें संतोष नहीं होता।'

विश्वनाथ स्वप्निल भाव से कमरे के बाहर निकल गया।

लवंग सुबह उठते ही कथकली नृत्य पर लेख लिखना शुरू किया। पूरे तीन घंटे में लेख पूरा हुआ। उसका विचार था कि कालेज के गर्ल्स यूनियन में इस लेख का पाठ हो। आईने के सामने खड़ी होकर झूम-झूम कर लेख पढ़ने लगी। एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा, तीन बार पढ़ा फिर भी संतोष नहीं हुआ तो मोहनदास को दिखाने चली। दरवाजे

के पास जाते ही नवीन चन्द्र का नाम कानों में पड़ा। वह ठिठक कर खड़ी हो गई। वह जानती थी कि विवाह की बातें चल रही हैं; किन्तु इतनी जल्दी सगाई पक्की हो जायेगी इसका तो अनुमान भी नहीं किया था। अब वह नवीन से कैसे मिलेगी? और फिर तीन लाख रुपये दहेज! पूरे तीन लाख!! लवंग का सिर घूम गया। वह उल्टे पाँव अपने कमरे में लौट आई?

उसके विवाह में तीन लाख रुपये दहेज देने पड़ेंगे और फिर ऊपर से और भी खर्च होगा ही। यह तो बिल्कुल सर्वनाश का सामान है। पिता की आर्थिक परिस्थिति क्या है यह उससे छिपा नहीं था। उनकी सम्पत्ति का आधा से अधिक हिस्सा धर्मार्थ में लगा हुआ था। व्यापार मंदा पड़ गया था। जमींदारी की आमदनी भी कम हो गई थी। ऐसी हालत में तीन लाख रुपये खर्च करना स्वाहुति करना था। लवंग विचलित हो गई। किन्तु सगाई का पैगाम तो अभी जा रहा है। क्या करना होगा। लवंग ने स्त्री बुद्धि से काम लिया। उसने महरी से कहा आफिस से जाने के पहले विश्वनाथ को मेरे कमरे में भेज देना।

विश्वनाथ को बचपन से ही वह ताऊजी कहती थीं। उनके आते ही पूछा, 'आप इस समय कहीं जा रहे हैं क्या?'

विश्वनाथ ने सिर हिला दिया।

'तो देखिये मेरी तीन चार किताबें सेण्ट्रल बुक डिपो से लेते आइएगा। मैं आपको लिस्ट देती हूँ और उससे कहियेगा......।'

'इस समय मुझे फुर्सत नहीं है।'

'अरे वाह, इसमें फुर्सत की क्या बात है? देखिये मैं लिस्ट बना देती हूँ।' उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही लवंग ने फाउण्टेन पेन निकाल कर लिस्ट बनाना शुरू कर दिया। न मालूम पेन ठीक से चल रहा था या नहीं, किन्तु उसने जो एक बार जोर से झटक दिया तो सारी की सारी स्याही विश्वनाथ के रेशमी कुर्ते पर जा गिरी। विश्वनाथ मन ही मन बहुत बिगड़ा।

लवंग ने मुँह बना कर कहा, 'च् च् च् च् ताऊजी मैं सचमुच बड़ी बेशऊर हूँ।'

विश्वनाथ स्याही पोंछने लगे।

'जरा कुर्ते को निकालिये तो मैं अभी इसे धो दूँ नहीं तो फिर दाग नहीं छूटेगा।'

'रहने दो, दूसरा कुर्ता पहन लूँगा।'

'लेकिन इसे तो धो दूँ।' लवंग ने विश्वनाथ को क्षण भर का भी समय नहीं दिया। कुरता लेकर दूसरे कमरे में चली गई। लिफाफा कुरते के पाकेट में ही था। उसने उसे खोल कर पढ़ा। फिर ज्यों का त्यों रख दिया। अपने कमरे में आकर वह बोली, 'ताऊ जी, यह स्याही तो छूटती ही नहीं।'

'रहने दो, धोबी को दे दिया जायगा।' विश्वनाथ चले गए। लवंग मंत्र-मुग्ध की तरह सोफे पर लेट गई।

संध्या समय लवंग ने अभय को बुलाया। उसका पूरा नाम था अभयकृष्ण। उसके पिता ने लड़कपन में लवंग को पढ़ाया था। उनके मरने के बाद उसके घर में दूसरा कोई न होने के कारण मोहन दास ने उसे अपने पास ही रख लिया। बहुत मिहनत करने पर भी शिक्षा की गाड़ी जब इण्ट्रेंस के आगे नहीं जा सकी तब जमालपुर में तीन साल तक मेकैनिक का काम सीख कर वह लौट आया। तब से लेकर अब तक उसमें केवल एक ही अन्तर आया। लड़कपन में लवंग को 'तुम' कहता था अब 'आप' कहता है।

लवंग ने मुस्कुराते हुए कहा, 'अभय, मुझे तुम्हारी वीरता पर भरोसा है।'

छह फीट का लंबा-तगड़ा अभय मानो छह इञ्च और बढ़ गया।

लवंग बोली, 'आज एक ऐसा काम आ पड़ा है जिसे तुम्हीं कर सकते हो और कोई नहीं कर सकता। काम कठिन है। क्या मैं आशा करूँ कि···।'

आलंकारिक भाषा से अभय को सख्त नफरत थी। वह ऊब कर बोला, 'सुनूँ भी तो क्या काम है ?'

'आज रातोरात मोटर पर डेढ़ सौ मील जाकर वहाँ से एक आदमी को लेकर लौटना है।'

'क्या वहाँ ट्रेन नहीं जाती ?'

'नहीं।'

'कब तक लौटना होगा ?'

'कल सुबह को आठ बजे अलीपुर चिड़ियाखाना में मुझसे मुलाकात करनी होगी।'

'रास्ता कैसा है ?'

'मालूम नहीं फिर भी कच्चा ही होगा।'

'बाबू जी को मालूम है ?'

'नहीं, नहीं, यही तो असल बात है। किसी को मालूम न हो कि तुम गये हो।'

अभय खिड़की के बाहर देखता हुआ मन में ही कुछ गुनगुनाने लगा।

'क्या सोच रहे हो ?'

'पिछला टायर फट गया है, कारबरेटर खराब हो गया है, और··· और···अच्छा, मैं जाऊँगा।'

'अच्छा, यह पत्र लो।' उस पर लिखा था 'श्रीयुत नवीन चन्द्र, एम० ए०' अभय ने लिफाफा पाकेट में रख लिया। पूछा, 'कहाँ जाना होगा ?' लवंग ने पता दे दिया।

अभय ने पूछा 'कल शाम को तो यहीं थे ?'

लवंग ने कहा, 'हाँ, आज सुबह को गये हैं। यदि कल सुबह तुम नहीं आये तो मैं कहीं की नहीं रहूँगी। मैं आठ बजे चिड़ियाखाना के सामने तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी।'

'मेरी प्रतीक्षा ?' अभय जोर से हँस पड़ा। लवंग झेंप कर बोली,

'बात एक ही है। हाँ मैंने तुम्हें खर्च तो दिया ही नहीं। ठहरो अभी लायी। रुपये लेकर जब लवंग लौटी तब देखा कि अभय चला गया था। दूसरे दिन पौने आठ बजे अभय की मोटर चिड़ियाखाना के सामने आकर खड़ी हो गई और उसमें से नवीन कूद पड़ा। लवंग वहीं प्रतीक्षा कर रही थी। दोनों चिड़ियाखाना के भीतर चले गए। अभय आँखें मूंद कर वही पनघट वाला अध-भूला गीत गुनगुनाने लगा।

एक पेड़ की घनी छाया के नीचे घास पर लवग को बिठा कर नवीन ने कहा, 'मैं तो तुम्हारा पत्र पाकर बिल्कुल घबड़ा गया कि बात क्या है। आज शाम को तो मै आता ही फिर तुम इतनी घबड़ा क्यों गई ?'

लवग की समझ में नहीं आया कि बात कैसे शुरू की जाय। वह बोली, 'हम दोनो यहाँ चिड़ियाखाना में बैठ कर बातें कर रहे हैं इसे अभय के सिवाय और कोई नहीं जानता। बहुत जरूरी कारण होने से ही मैंने ऐसा दु:साहस किया है।'

लवंग चुप हो गई। उसे लगा मानो प्रारम्भ ठीक तरह से नहीं हुआ। नवीन बोला, आँखें मूँदे हुए आगे बढ़ो।'

बहुत कोशिश करके लवंग बोली, 'जानते हो हम दोनों की सगाई ठीक हो गई ?'

नवीन लेटा था, चौंक कर बैठ गया, 'नहीं तो, कब ?'

'कल प्रात:काल सगाई का मुहूर्त्त है।'

लवंग का हाथ पकड़ कर नवीन बोला, 'सच ?'

हाथ छुड़ाते हुए लवंग ने कहा, 'लेकिन इसमें एक बात है।'

'कौन-सी बात ?'

'जानते हो तुम्हारे पिता जी की शर्त क्या है ?'

'पूरा पूरा तो नहीं, लेकिन थोड़ा बहुत जानता हूँ।'

'वे तीन लाख रुपये दहेज लेंगे।'

'दहेज का तो उन्होने कभी नाम ही नहीं लिया।'

'बात तो एक ही हुई। मूर्ख लोग सीधी-सादी भाषा में जिस बात

को कहते हैं बुद्धिमान लोग उसी को विशाल शब्दाडम्बर से ढँक देते हैं। पटने में तुम्हारी रेकर्डिंग कम्पनी खुलने वाली है ?'

'इच्छा तो है लेकिन अभी कोई साधन नहीं है।'

'जब साधन ही नहीं है तो फिर उसकी चर्चा कैसी हो रही है !' नवीन ने बात टालते हुए कहा' 'होगी कुछ चर्चा लेकिन उससे तुमसे क्या सम्बन्ध ?'

लवंग आवेशपूर्ण स्वर में बोली, 'यदि उससे मेरा सम्बन्ध न होता तो डेढ़ सौ मील मोटर भेज कर इस समय तुम्हें यहाँ नहीं बुलाती। मैंने निश्चय कर लिया है आज सारी बातों का निबटारा कर लूँगी।'

काव्य और संगीत के लोक की लड़की रुपये पैसे की बात लेकर इतने आवेश के साथ बात कर सकती है नवीन ने इसका अनुमान भी नहीं किया था। वह गिड़गिड़ा कर बोला 'लवंग, न मैं स्वयं इन बातों में पड़ता हूँ और न तुम्हें पड़ने दूँगा। रुपये पैसे की बात लेने और देने वाले जानें। हमें तुम्हें क्या मतलब ?'

लवंग ने कहा, 'ऐसा नहीं हो सकता। तुम न पड़ो लेकिन मैं तो पड़ूँगी ही। माना कि हम दोनों में प्रेम है, किन्तु प्रेम से भी ऊँची एक चीज है और वह है कर्त्तव्य। तुम से विवाह करके सुखी होने के लिए मैं पिता जी का सर्वनाश कभी नहीं होने दूँगी। जानते हो इस विवाह का अर्थ क्या है ? नवीन कुछ नहीं बोला केवल एक टक उसकी ओर देखता रहा।

लवंग कहती गई, 'इसका अर्थ है कि उनकी सारी सम्पत्ति बिक जायेगी वे दर-दर के भिखारी हो जायेंगे और अभी जो सैकड़ों अनाथों का निर्वाह हो रहा है वह बन्द हो जायेगा। मेरे सुख का इतना बड़ा मूल्य है। यह मूल्य देकर फिर क्या मैं कभी सचमुच सुखी हो सकूँगी ?'

थोड़ी देर तक दोनों चुप रहे अंत में नवीन बोला, 'विषम समस्या

है। मैंने कभी नहीं सोचा था कि यह प्रश्न किसी समय ऐसा विकराल रूप धारण करेगा।

'लवंग तुम मुझे सोचने का समय दो।'

लवंग ने कहा, 'लेकिन कल ही तो सगाई का मुहूर्त्त है।'

नवीन बोला, 'तुम क्या चाहती है ?'

लवंग ने दृढ़ स्वर में कहा, 'यह हमारे और तुम्हारे चाहने की बात नहीं है सिद्धान्त की बात है। आज लाख-लाख पिताओं के लिए कन्या सर्वनाश का द्वार हो रही है। मैंने निश्चय किया है कि एक आदर्श स्थापित करूँगी। तुम्हारे हृदय में बल हो तो मेरा साथ दो और नहीं तो फिर अकेली ही अपने पथ पर आगे बढ़ूँगी।

नवीन ने बहुत ही विनीत स्वर में कहा, 'लवंग, मुझे पूरा विश्वास है कि तुम जो कुछ करोगी खूब सोच-विचार कर। मेरा जीवन तुम्हारे हाथो में है।'

लवंग बोली, 'एक ऊँचे आदर्श के सामने हमारे या तुम्हारे जीवन का मूल्य कुछ भी नहीं है। फिर भी देखना है तुममें कितना बल है।'

नवीन ने उठते हुए कहा, 'रात को दस बजे मेरे पत्र की प्रतीक्षा करना।'

लवंग अपनी कार पर घर लौट गई। नवीन विचार तरंगों में डूबता उतराता पैदल ही चला।

लड़की की शादी एक करुण कहानी है जिसमें आनन्द भी मिलता है और आँसू भी बहते हैं। मोहन दास को संतोष इस बात का था कि लवंग सुखी होगी और वेदना यह थी अब संसार से रहा सहा नाता भी टूट जायेगा। वे ड्राइंगरूम में बैठे हुए कोई पत्र लिख रहे थे इतने में ही हाँफते हुए विश्वनाथ पहुँचकर बोले, 'जानते हैं क्या हुआ ? सर हेमचन्द्र के यहाँ आज शाम को कानपुर से पैगाम आया है। वह पाँच लाख नकद देने को तैयार है···पाँच लाख।'

'तो फिर' मोहन दास ने व्यग्रता से पूछा।

'कुछ नहीं। अब एक बार जबान देकर बच्चा कर ही क्या सकते हैं। अगर जरा-सी देर हो जाती तो फिर लड़का हाथ से निकल जाता। विश्वनाथ की हँसी का फव्वारा छूटने ही को था कि यह बात याद आ गई कि अभी स्वयं तीन लाख का प्रबन्ध करना है। मस्तिष्क में शिथिलता-सी आ गई। धीरे से एक कुर्सी पर बैठ गए।

चाँदनी रात थी। खिड़की के सामने खड़ी होकर लवंग चन्द्रमा और बादलों की आँख-मिचौनी देख रही थी। आँधी आने के पहले की प्रकृति की तरह उसका मुख मंडल गम्भीर हो रहा था। दीवर पर कुसुम की तस्वीर टँगी हुई थी। उसकी आँखों से कोई मूक संदेश बरस रहा था। मेज पर की घड़ी अपने पथ पर मस्त चली जा रही थी। सामने साँवले आकाश में तारों की भीड़ चीरता हुआ एक गुब्बारा व्याकुल-सा न जाने किस अनन्त अज्ञात देश की ओर दौड़ा चला जा रहा था। इतने में ही अभय ने कमरे में प्रवेश किया।

लवंग ने झपट कर उसके हाथ से लिफाफा ले लिया और खोल कर पढ़ने लगी। पत्र बहुत संक्षिप्त था। उसमें लिखा था —

प्रिय लवंग,

प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़ कर जान नहीं पड़ता मैं क्या करूँ। मैं जानता हूँ मेरा जीवन नष्ट हो जायेगा फिर भी पिता जी की इच्छाओं के विरुद्ध मैं नहीं जा सकता। मैं अपने प्राण देकर भी उनकी मर्यादा की रक्षा करूँगा और उसके लिए मुझे अपने को बेंचना ही पड़ेगा। मुझे क्षमा करो और ईश्वर से प्रार्थना करो कि वह मुझे बल दे।

आजन्म तुम्हारा ही

'नवीन'

पत्र पढ़ कर लवंग प्रतिमा की तरह बैठी रह गई। आँखें मुँद गईं। ओठों पर वेदना की हल्की मुस्कान बिखर-सी गई। अभय ने पुकारा, 'लवंग!'

लवग ने मानो सुना ही नही।

अभय ने फिर पुकारा, 'लवग !'

लवग ने आँखे खोल दी। आँखो के कोने मे आँसू के दो कण चमचमा उठे।

अभय ने कहा, 'लवग, मै जा रहा हूँ।'

'कहाँ जा रहे हो ?'

लड़खड़ाते हुए स्वर मे अभय ने कहा, 'मालूम नही, किन्तु लवग, क्या तुम मेरी एक बात रखोगी। माँ ने मरते समय मुझे यह अँगूठी दी थी। ससार मे इससे प्रिय मुझे और कोई चीज नही। कल तुम्हारी सगाई होगी। उसके उपलक्ष्य मे मै तुम्हे यह उपहार देना चाहता हूँ। तुम युग-युगान्तर तक सुख रहो · और ··और ।'

अभय ने लवंग को अँगूठी पहना दी। लवग ने कोई आपत्ति नहीं की।

अभय कुछ रुक कर फिर बोला, 'लवग, मै इस योग्य नही हूँ कि अपना सर्वस्व देकर भी तुम्हारी कोई सेवा कर सकूँ। तुम्हे ईश्वर ने सब कुछ दिया है। फिर भी यदि जीवन मे किसी सच्चे मित्र की कभी तुम्हें आवश्यकता आ पड़े तो मुझे स्मरण करना। अपने प्राण··· ··अच्छा मैं चला।'

अभय की आँखो मे आँसू छलछला आये। उसने सिर दूसरी ओर घुमा लिया। फिर भरे हुए गले से उसने कहा—

'लवग, अब मै जाता हूँ।'

'कहाँ जाते हो ?'

'कहाँ जाऊँगा ? कह नही सकता।'

'तो मै भी चलूँगी।'

'तुम ?'

'हाँ, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।'

अभय हतबुद्धि-सा खड़ा रहा। लवंग ने अभय का सुदृढ़ हाथ अपनी

सुकुमार उँगलियों में लेकर शांत स्वर से कहा, 'मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ, फिर भी बनने की कोशिश करूँगी। तुम्हें अपनाकर मैं तुम्हारी बनने की कोशिश करूँगी, और......।'

भावावेश से काँपते हुए अभय ने उसका हाथ जोर से पकड़ कर कहा, 'लवंग !'

दोनों हृदयों में बेतार का तार दौड़ गया। लवंग ने क्षीण स्वर में कहा, 'नाथ !'

मोहन दास बैंकर की एकमात्र कन्या का विवाह एक मोटर ड्राइ-वर के साथ हो गया।

नवीन ने भी सुना। सुनकर वह चुप रह गया, फिर हँसने लगा और हँसते-हँसते रो पड़ा।